10.4
V2
ाध्याय
सुमन
स्वामी वेदानन्द तीर्थ
राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

का व्यवहार कुटुम्ब की एकतानता पर वज्रप्रहार है। समता स्थिर रखने के लिये स्नेही का व्यवहार करना होता है, तभी तो वेद ने कहा—

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' य० ३६।१८

सब को मित्र की स्नेहसनी आँख से हम देखें।

यहाँ वेद मनुष्य-सीमा से भी आगे निकल गया। प्यार का अधिकारी केवल मनुष्य ही न रहा, वरन् सब भूत-प्राणी होगये। यह उचित भी है, क्योंकि 'मनुष्य' शब्द का अर्थ है—'मत्वा 'कर्म्माणि सीव्यति' (निरुक्त ३।७) जो विचार कर कर्म करे, अन्धाधुन्ध कर्म न करे। कर्म करने से पूर्व जो भली प्रकार -चारे कि मेरे इस कर्म का क्या फल होगा ? किस-किसपर इसका क्या-क्या प्रभाव होगा ? यह कर्म भूतों के दुःख, प्राणियों की पीड़ा का कारण बनेगा, या भूतहित साधेगा ?

मनुष्य यदि सचमुच मनुष्य बन जाए तो संसार से सारा उपद्रव दूर होजाए। देखिये, थोड़ा विचारिए, थोड़ा-सा मनुष्यत्व काम में लाइए। वेद के इस उपदेश के महत्व को हृदयङ्गम कीजिए।

धार्मिक दृष्टि से विचारें, तो मनुष्य-समाज के दो बड़े विभाग बन सकते हैं—एक ईश्वरवादी दूसरा अनीश्वरवादी। सभी ईश्वर वादी ईश्वर को 'पिता' मानते हैं। वेद इससे भी आगे जाता है वह ईश्वर को पिता के साथ माता भी मानता है। यथा—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ऋ. ८।९८।११ ॥

अर्थात् सबको ठिकाना देने वाले ! सचमुच तू हमारा पिता कइयों के उत्पत्ति आदि नानाविध कर्म करने वाले परमात्मन् ! पूर्वज, ना है, अतः हम तेरा उत्तम हृदय (Good wishes)

मंगल आशंसन=शुभ आशीर्वाद चाहते हैं।

माता पिता की शुभाशीः, शुभकामना सन्तान का कितना कल्याण करती है ? परमपिता दिव्य माता की भव्यभावना हमारा कितना इष्ट कर सकती है इसकी पूरी कल्पना कौन कर सकता है।

प्रभु हमारे माता पिता। हम उनकी सन्तान। किन्तु कुसन्तान-जघन्य सन्तान, अयोग्य सन्तान, विद्रोही सन्तान। हम आपस में लड़ते हैं। भाई-भाई की लड़ाई ! भगवान् ने कहा था—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। ऋ. १०।१९१।२

तुम्हारी चाल एक हो, तुम्हारा बोल एक हो, तुम्हारा ख्याल एक हो।

हमारी चाल आज भिन्न-भिन्न ही नहीं, परस्पर विरुद्ध है। आज हम संवादी नहीं, विवादी हो गए हैं। आज हम 'संवाचः' नहीं, 'विवाचः' हो गए हैं। इसका कारण हमारा 'वैमनस्य' मनो-भेद=मतभेद=विचारभेद है। एक चाल=संगति, एक बोल=सम्-उक्ति के लिए 'सांमनस्य' मन की एकता, मत की अभिन्नता, विचार की समता की आवश्यकता है।

पिता का आदेश है, माता का सन्देश है—संगच्छध्वं। हम इसके विपरीत चलकर पिता का अधिकार, माता का प्यार कैसे पा सकते हैं ? मानव ! ठहर। सोच ! तू कहाँ चला गया ? कहाँ बिदक गया ?

मैं बिदक गया ! बहक गया ! वज्रभ्रान्ति ! ईश्वर ईश्वर कह रहे हो। कहाँ है ईश्वर ? जब ईश्वर ही नहीं, तब उसका माता-पिता होना कैसे ? और हम सब मनुष्य 'भाई भाई' कैसे ? सति कुड्ये चित्रम्=आधार होगा, तो चित्र बनेगा ?

अच्छा ! ईश्वर को ही जवाब ! जाने दो, तुम्हारा मन को नहीं मानता; न सही ! भगवान् का मानना बड़े

बात है। किन्तु भगवान् को न मानकर भी मानव, मानव का भाई है।

कैसे ?

सुनो ! सावधान होकर सुनो। तुम दो की सन्तान हो न ! घबराने क्यों लगे ? इसमें अचम्भे की बात ही क्या है ? माता और पिता के संयोग से ही मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अकेली स्त्री से सन्तान नहीं हो सकती। अकेले पुरुष से कुछ नहीं बनता। सृष्टि चलाने के लिये स्त्री पुरुष का, प्रकृति पुरुष का, रवि प्राण का संयोग आवश्यक है। अर्थात् दो मिले, तो तुम एक आए। अर्थात् तुम में दो का रुधिर आया। और ये दो भी तो दो-दो के सन्तान हैं। अर्थात् हम में दो और चार का रुधिर आया। उन चार के जो और सन्तान हुए, उनमें भी उनका रुधिर आया। कहो, वे और तुम सब सपिण्ड हुए या न ? तनिक और आगे चलो, वे चार आठ के सन्तान, व आठ सोलह की, इस प्रकार ज्यों-ज्यों ऊपर को जाओगे, अपना खून का सम्बन्ध बढ़ता हुआ पाओगे।

कहो, हुए न हम भाई-भाई।

बताओ, भाई-भाई का व्यवहार कैसा होना चाहिए ? क्या भाई-भाई का गला काटे, यह अच्छा है ? अथवा भाई के पसीने के बदले भाई अपना खून बहा दे यह अच्छा है ?

भाई को भाई से भय नहीं होता। भाई को अपने से अभिन्न माना जाता है। डर होता है दूसरे से–द्वितीयाद्वै भयं भवति। [भा]ई को देखते ही हृदय हर्षित हो उठता है। आ ! विश्वसंसार को [अप]ना। भय को भगा। सर्वत्र निर्भय, निष्कण्टक आ और जा। [व]ेद का 'मनुर्भव' कहना कल्याणसाधक है या नहीं ?

मनुष्य बनना संसार में शान्ति स्थापन करने का

एकमात्र साधन है। सभी मनुष्य 'मनुष्य बन जाएं' तो यह मार-काट, यह लूट-खसूट उसी क्षण समाप्त होजाए। किन्तु यह है अत्यन्त कठिन।

निस्संदेह मनुष्यत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। शंकराचार्य्य जी ने कहा—'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' प्राणियों में नर-तन पाना दुर्लभ है। सचमुच नर-तन पाना दुस्साध्य है, किन्तु असाध्य नहीं। वेद इससे आगे जाता है। वेद कहता है—मनुष्य जन्म, नर-तन तो तूने प्राप्त कर लिया 'मनुष्य' भी बन। केवल नर-तनधारी ही न रह, नर-मनधारी भी बन। इसी वास्ते वेद ने कहा—'मनुर्भव।'

यद्यपि 'मनुर्भव' कहने से ही सब बात आ गई है किन्तु भगवती श्रुति उसके उपाय भी बता देती है। वैसे तो सारा वेद ही नरतनधारी को मनुष्य बनाने के लिए है, किन्तु इस मन्त्र में जो कुछ कहा है उस पर भी यदि आचरण किया जाए तो अभीष्ट सिद्ध होजाए।

मनुष्य बनने का पहला साधन है—

'तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि।'

संसार का ताना-बाना बुनता हुआ भी तू प्रकाश का अनुसरण कर। अर्थात् तेरे समस्त कर्म्म ज्ञानमूलक होने चाहिएँ। अज्ञान, अन्धकार तो मृत्यु के प्रतिनिधि हैं। अन्धकार से उल्लू को प्रीति हो सकती है, मनुष्य को नहीं। मनुष्य बनने के लिए अन्धकार से परे हटना होगा। ऋषि ठीक ही कहते हैं—

तमसो मा ज्योतिर्गमय। शत० १४।३।१।३०

अन्धकार से हटा कर मुझे प्रकाश प्राप्त करा।

अन्धकार में कुछ नहीं सूझता, सब क्रियाएं

हैं। अतः वेद कहता है—भानुमन्विहि=प्रकाश के पीछे चल।

प्रकाश का अनुसरण करना मात्र ही पर्य्याप्त नहीं है। कुछ और भी आवश्यक होता है। प्रकाश के पीछे तभी चला जा सकेगा, जब प्रकाश स्थिर होगा। यदि प्रकाश विद्युतच्छटा के समान चंचल हो, तो उसका अनुसरण कैसे हो सकता है। इस आशय को लेकर वेद ने दूसरा उपाय बताया—

ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान्।

प्रकाश के मार्गों की रक्षा कर, उनमें अपनी बुद्धि से परिष्कार कर।

संसार के सभी देशों में रौशनी बुझाने वालों के लिये दण्ड का विधान है। किन्तु संसार की गति अत्यन्त विचित्र है। संसार में ऐसे भी हुए हैं, और कदाचित् आज भी ऐसे मनुष्याकारधारी प्राणी हैं, जो प्रकाश का नाश करते रहे और कर रहे हैं। उसे क्या कहोगे, जिसने सिकन्दरिया का विशाल पुस्तकालय जला दिया। उन्हें क्या कहोगे, जो वर्षों भारत के ज्ञानभण्डार से हमाम =स्नानागार गर्म करते रहे? उनका क्या नाम धरोगे, जिन्होंने चित्रकूट का करोड़ों रुपयों का पुस्तकालय अग्निदेव की भेंट कर डाला? ये सभी नरतनधारी थे, किन्तु क्या ये मनुष्य नाम के भी अधिकारी थे, इसमें सन्देह है। मनुष्य बनाने का साधन नष्ट करने वाले मनुष्य कैसे? वे तो कोई मनुष्यता के वैरी थे। उनको क्या कहोगे, जो आज भी ज्ञानभण्डार को जलदेवता के अर्पण कर रहे हैं? उनको क्या कहोगे, जो प्रकाश को दूसरों तक नहीं जाने देते, अपने तक रोक रखते हैं? ये सब······। लाखों ज्ञानी ज्ञान अपने साथ ले जाते हैं। वह ज्ञान किस काम का? वेद कहता है—ज्योतिष्मतः पथो रक्ष—ज्ञानमार्गों की रक्षा कर। पूर्वजों से प्राप्त ज्ञानराशि की रक्षा कर।

मानव ! वायुयान में बैठकर आकाश की ओर उड़ जाता है, अन्तरिक्ष की सैर करता है। ज्ञात है यह कैसे संभव हो सका? वेद के 'अन्तरिक्षे रजसो विमानः' की बात नहीं कहूँगा। और न ही कहूँगा रामायण के पुष्पक विमान की बात। आज के विमान का बयान सुनाऊँगा। किसी भद्र के चित्त में पक्षी को उड़ता देख उड़ने की समाई। उसने कृत्रिम पंख लगाकर उड़ने की ठानी। बेचारा गिर पड़ा, अङ्ग भङ्ग होगए। अगलों ने उसकी चेष्टा को स्मरण रखा, उसके यत्न को मूलाधार बनाया, साथ ही उसमें अपना मस्तिष्क लगाया। अब सोच मानव ! यदि उस प्रथम त्यागी के ज्ञान को भुला दिया जाता, तो नए सिरे से यत्न करना पड़ता, फल क्या होता, वायुयान न बन पाता। अतः वेद का यह कहना 'ज्योतिष्मतः पथो रक्ष' बहुत ही सारगर्भित है।

हां ! यदि उस पहले उड़ने वाले ने जितना यत्न किया था, उतने की ही रक्षा की जाती, उसमें अपना भाग न डाला जाता, अपना दिमाग न लड़ाया जाता तो ! तो भी वायुयान न बन पाता। अतः वेद ने ठीक ही कहा—धिया कृतान्—प्रकाश की रक्षा अवश्य कर, किन्तु उसमें अपना भाग भी डाल। अन्यथा दीपक बुझ जायगा।

वैदिकों ने इस तत्त्व को समझकर प्रथम संस्कृति=वेद तथा उसके अङ्गोपाङ्गों की रक्षा करने में प्राणपण से यत्न किया है। अतः वेद के शब्दों में कहो—

नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः। ऋ० १० । १४ । १५

पूर्वज ऋषियों को नमस्कार।

ज्ञान का पर्य्यवसान अनुष्ठान में होता है। ज्ञान का अनुसरण करने के लिए ज्ञान के रक्षण और परिवर्द्धन की नितान्त आवश्य-

कता है किन्तु ज्ञान का प्रयोजन ? 'ज्ञान ज्ञान के लिए' यह सिद्धान्त प्रमादियों का है। ज्ञान की सफलता कर्म्म में है। अतः वेद कहता है—

'अनुल्बणं वयत जोगुवामपः।'

ज्ञानानुसार कर्म्म करने वालों के उलझन रहित कर्म्मों को करो। लोकोक्ति है—'लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः'—कर्म्म बन्धन का कारण है। वेद कहता है कर्म तो अनिवार्य्य हैं, उनसे छूट नहीं सकते। अतः ऐसे कर्म्म करो जो उलझन को मिटाने वाले हों, न कि उलझन बढ़ाने वाले। जो कर्म्म ज्ञानविरहित होंगे, ज्ञान के विपरीत होंगे, वे अवश्य उलझन पैदा करेंगे। अतः ऐसा न कर जिससे संसार की उलझनें और बढ़ें। यह तो पहले ही बहुत उलझा हुआ है।

तुझे सूझता नहीं कि कौन-सा कर्म्म 'अनुल्बण' है और कौन सा 'उल्बण'। तुझे कोई अंगुलि पकड़कर बताए। अच्छा, जहाँ तू रहता है, वहाँ कोई ब्रह्मनिष्ठ भी है या नहीं ? उन ब्रह्मनिष्ठों का व्यवहार देखना, जो सत्यप्रिय, मधुर-भाषी, निष्काम, सर्व-हितकारी हों। देख, वे कैसे करते हैं *। उनका अनुसरण कर। किन्तु ज्ञान को हाथ से न देना।

इन साधनों का अनुष्ठान करके निस्सन्देह मनुष्यता सुलभ हो जाती है। किन्तु मनुष्यत्व के साथ वेद ने एक कर्त्तव्य भी लगा दिया है। वह है—

---

*विद्या समाप्तिका सूचक समावर्तन संस्कार कराके शिष्य जब घर जाने को उद्यत हो तो गुरु उसे जो उपदेश करता है, उसमें यह वाक्य आता है—यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः (तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।३–४)

जनया दैव्यं जनम्—दैव्य जन पैदाकर

मनुष्य को मनुष्यता की सारी सामग्री समाज से मिली है। अतः उसे चाहिए कि वह भी समाज को कुछ दे जाये, समाज का सारा कार्य्यभार॰ देवों के सहारे चलता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि ऐसे सर्वहितकारी देवों का कुछ प्रत्युपकार अवश्य करे। इस भाव को लेकर वेद ने कहा—

जन्या दैव्यं जनम्।

दैव्य-देवहितकारी जन को कौन पैदा करेगा? क्या राक्षस, दस्यु? कभी नहीं। अतः देवजनहितकारी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को स्वयं देव बनना पड़ेगा, अर्थात् मनुष्य बनकर जब सन्तान उत्पन्न करने में प्रवृत्त होने लगे, तब उसके हृदय के कुकाम की कुवासना न हो, वरन् जनसमाज, नहीं नहीं देव-समाज के हित की भावना हो।

वेद मनुष्य बनाकर चुपके से देवत्व के मार्ग पर ला खड़ा करता है।

अर्थात् यदि तुझे कर्त्तव्य में सन्देह हो या व्यवहार में सन्देह हो तो वहाँ सबके प्रति समान व्यवहार करने वाले, सदाचारयुक्त, दुराचार से विलग, कर्म्मतत्पर स्निग्धमधुर, धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उस विषय में जैसे वे वर्तें वैसे तू वर्तना।

॰'देव' शब्द के सम्बन्ध में बौधायन गृह्यसूत्र के निम्नलिखित सूत्र देखने योग्य हैं—

१. ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्रागुपनयनाज्जात इत्यभिधीयते ॥१॥
ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ बालक उपनयन से पूर्व 'जात' कहलाता है।

२. उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदाना किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः ॥२॥
ब्रह्मचर्यादि व्रतों का आचरण करने वाला यज्ञोपवीतधारी कुछ वेद

पढ़कर 'ब्राह्मण' होता है।

३. एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥३॥
एक शाख पढ़ने से 'श्रोत्रिय' होता है।

४. अङ्गान्यधीत्यानूचानः ॥४॥
वेदाङ्ग पढ़ कर 'अनूचान' होता है।

५. कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥५॥
वेद की प्रयोगविद्या पढ़कर 'ऋषिकल्प' होता है।

६. सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥६॥
सूत्र और व्याख्यान को पढ़ने वाला 'भ्रूण' होता है।

७. चतुर्वेदाद् ऋषिः ॥७॥
चारों वेदों के पढ़ने से 'ऋषि' होता है।

८. अत ऊर्ध्वं देवः ॥८॥
इससे आगे 'देव' होता है।

चारों वेदों के पढ़ने के आगे उनके अनुसार अनुष्ठान ही हो सकता है। वेदविद्या के अनुसार जीवन बिताने वाले सर्ववेदवित् को देव कहना चाहिए। वेदानुसार जीवन है लोकोपकार में अपने-आपको लगा देना।

———

पूर्वजों के मार्ग पर चल

मैतं पन्थामनु गा भीम एष
येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि ।
तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था
भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥

अ० ८।१।१०

एतम् पन्थाम्—इस मार्ग पर
मा अनु+गाः—मत चल,
एषः भीमः–[क्योंकि] यह
भीम [है]।
येन–जिस [मार्ग] से
पूर्वम्–पहले
नेयथ–तू ले जाया गया ।
तं ब्रवीमि–उसे बताता हूँ ।
पुरुष–हे पुरुष ! नागरिक* !

एतत् तमः–इस अन्धकार को
मा प्र+पत्थाः–मत प्राप्त हो ।
अथवा इस अन्धकार में
मत गिर ।
परस्तात् भयम्–पिछली ओर
भय [है]।
अर्वाक्–इस ओर
ते अभयम्–तुझे अभय [है]।

जीवन का मार्ग बहुत बोहड़ और भयावह है । इसमें बड़े-बड़े समझदार कहे और समझे जाने वाले महानुभाव भटक जाते हैं, मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं; साधारण जनों का तो कहना ही क्या है ? कः पन्था. ? मार्ग कौन-सा है ? यह सनातन प्रश्न है । सब कालों

*पुरुषः=पुरि शयः (निरुक्त अ०२।३) जो नगर में रहता है ।

और सब देशों में यह प्रश्न विचारकों के सामने आया है। बहुत थोड़े ऐसे भाग्यवान् हैं, जो इस प्रश्न का पूरा समाधान कर सके हैं, और तदनुसार जीवनयात्रा कर सके हैं।

मैतं पन्थामनु गाः—मत इस राह पर चल।

सभी मनुष्यों का यह अनुभव है कि कठोर कर्त्तव्य के समय उन्हें सांसारिक मोह घेर लेता है। न्यायाधीश का अपना पुत्र अपराधी के रूप में उसके सामने उपस्थित किया जाता है। अपराध प्रमाणित हो जाता है किन्तु सुतमोह, पुत्र-प्रेम न्याय के मार्ग में आ खड़ा होता है। वह न्याय नहीं करने देता। क्या वह—

गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्म्मविप्लवम्।

कानून-भंग करने वाले को—चाहे वह धर्म्मोल्लंघन करने वाला पुत्र हो या शत्रु हो—न्यायव्यवस्थानुसार अवश्य दण्ड देता है?

—न! न! वह फिसल जाता है। वह मार्ग छोड़ बैठता है। वह उस मार्ग पर चलता है, जिसके लिए वेद कहता है—

मैतं पन्थामनु गाः—मत इस राह पर चल।

—मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है?

—क्या खाना, पीना, भोग करना और बस?

—बहुत पुराने काल में रावण ने भगवती सीता को कहा था—

"भुङ्क्ष्व भोगान् यथाकामं पिब भीरु रमस्व च।—"

वा० रा० सुन्दर काण्ड २०। २४॥

सीते! यथेच्छ भोग भोग! खा, पी और मौज कर।

"पिब विहर रमस्व भुंक्ष्व भोगान्—"

वा० रा० सुन्दर काण्ड २०। ३५॥

पी, विहार कर, रमण कर, भोगों को भोग।

किन्तु सीता माता ने वेद में पढ़ रखा था—मैतं पन्थामनुगाः। अतः वह इस मार्ग पर न चली, न चली। राक्षस रावण के प्रणय-प्रलाप को उसने ठुकरा दिया।

भोग भोगना मनुष्य का धर्म्म नहीं। क्या मनुष्य भोग में—खान-पान आदि विषयों में—पशुओं की समता कर सकता है? क्या कोई हाथी के बराबर खा सकता है?

भोग तो राक्षसों का धर्म्म है। स्वयं रावण ने कहा—

स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा॥

वा० रा० सुन्दर काण्ड २०। ५॥

हे धर्म्मभीरु सीते! परस्त्रीगमन (व्यभिचार)=भोग, अथवा बलात्कार से परदारहरण यह तो राक्षसों का स्वधर्म है।

तो क्या हम राक्षस बनें? वेद कहता है—न भाई! भीम एष—यह मार्ग भयंकर है। वेद ने स्पष्ट कहा है—मनुर्भव।

आज भी जो 'eat drink and be merry' 'खाओ' पियो आनन्द करो' का उपदेश करते हैं, वे रावण का समर्थन करते हैं, राक्षस-धर्म का प्रचार करते हैं।

जब जीवन-यात्रा के लिए मनुष्य तैय्यार होता है। तब उस के सामने दोराहा आता है। एक मार्ग पर सब लुभावनी सामग्री—नाच, गान, स्त्री, खान-पान आदि—होता है, दूसरे पर ऐसा कुछ दीखता नहीं। मनुष्य—साधारण मनुष्य, अपरिपक्व विवेक वाला मनुष्य=पहले मार्ग को चुनता है। कारण दो हैं—मन्दमति और सांसारिक लालसाओं की पूर्त्ति की सम्भावना।

यम ने नचिकेता को इस दोराहे की बात भली-भाँति समझाई थी। उसने कहा था—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः। कठो० १।२।२

श्रेयोमार्ग और प्रेयोमार्ग दोनों ही मनुष्य को मिलते हैं। किन्तु

प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते । कठो० १।२।२।

मन्दमति मूर्ख योगक्षेम के कारण—सांसारिक भोगभावना के कारण—प्रेयमार्ग को पसन्द करता है।

मूर्ख दोनों का भेद नहीं जानता, वह उनमें पहचान नहीं कर पाता। पहचान तो धैर्य्यवान्, विचारशील ही कर सकता है—

तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। कठो० १।२।२॥

धीर मनुष्य ही उन दोनों—श्रेय और प्रेय मार्गों की जाँच करके भेद कर सकता है, पहचान कर सकता है?

महान् अज्ञानी मूढ़ ही इस प्रेय मार्ग पर चलते हैं। यम कहता है—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
कठो० १।२।५॥

जो अविद्या में फँसे हैं, किन्तु अपने-आपको ध्यानी और पण्डित मान रहे हैं, दुरवस्था में ग्रस्त ऐसे महामूढ़ लोग ही इस मार्ग पर चलते हैं वे स्वयं अन्धे हैं, और अन्धों ही के पीछे चल रहे हैं।

वेद कहता है—मत चल इस मार्ग पर। तुझे मैं मार्ग बताता हूँ। पहले भी इसी मार्ग से तुझे और तेरे बड़ों को चलाया था—

येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।

अरे! यह अन्धकार से ढका है। अन्धकार मृत्यु है। प्रकाश जीवन है। तू अन्धकार में मत फँस। भगवान ने कहा है—

तम एतत् पुरुषं मा प्रपत्थाः।

नगर के रहने वाले! यह अन्धकार है, इसमें मत गिर। नगरवासी तो प्रकाश का अभ्यासी है। पुरुष की यह नगरी-देह-ज्योति से आवृत है। प्रकाश से ओत-प्रोत का अन्धकार में गिरना लज्जास्पद है। यदि संसार पथ=प्रेयोमार्ग=भोगपद्धति इतनी भयावह है, तो ऐसा हमें प्रतीत क्यों नहीं होता? इस पुराने प्रश्न की मीमांसा यम ने इस प्रकार की है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
कठो० १।२।६॥

यह साम्पराय—आनी-जानी दुनिया=विनश्वर संसार बालक को—मूढ़ अज्ञानी को—नहीं दीखता, प्रमादी को भी नहीं सूझता। भर्तृहरि के शब्दों में उसने तो शराब पी रखी है—पीत्वा मोह-मयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्। प्रमाद की मोहक मदिरा=शराब पीकर संसार पागल हो रहा है। धन के मद में मत्त भी इसको नहीं देखता। धन का नशा बड़ा तीव्र होता है। इन तीनों की दृष्टि इस संसार से परे नहीं जाती। वे इस लोक एवं अपने देह को ही सब कुछ समझते हैं। अतः जन्म-मरण के चक्कर में फँसे रहते हैं।

वेद कहता है—

'भयं परस्तात्'—अरे! पीछे तो भय है।
अतः इस पर मत चल।
अभयं ते अर्वाक्—इस ओर अभय है।
आ, इधर चल।

❀ मरों की चिन्ता मत कर ❀

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥

अ० ८ । १ । ८ ॥

गतानाम्–[उन] गए हुओं की, मरे हुओं की ।
मा आ दीधीथाः–मत चिंता कर
ये परावतम्–नयंति–जो दूर ले जाते हैं ।
तमसः–अन्धकार को छोड़कर
ज्योतिः आ+रोह–प्रकाश पर आरूढ़ हो ।
एहि ते हस्तौ–आ, तेरे हाथों को
आ रभामहे–हम वेगयुक्त करते हैं ।

जीवन और मरण का चक्र दिन-रात चल रहा है । जीवन-मरण एक-दूसरे के अनुबन्धी हैं । संसार में यदि मरण न हो, तो जीवन में कोई रस ही न रहे । विविधता ही जीवन है । मृत्यु में एक-रसता है । उसमें किसी प्रकार विकार परिणाम, परिवर्त्तन नहीं होता है । जीवन तो है ही विकार का नाम । प्राणी उत्पन्न होता है तब सत्ता बनती है । अवस्थाओं में अन्तर आता है । बढ़ता है, घटता है । उत्पत्ति से पूर्व की कथा कौन कहे ? किन्तु उत्पत्ति के पश्चात सत्ता, घटना-बढ़ना सभी हैं । विनाश से पूर्व की कहानी सुनाई जा सकती है, बाद की कथा कौन कह सकता है ? होने, घटने, बढ़ने, बदलने का नाम जीवन है ।

उत्पन्न हुआ शिशु असमर्थ है । हाथ-पाँव मारता है, कर

कुछ नहीं सकता । रोकर ही भूख-प्यास की बात बताता है । लो, ज़रा बड़ा होगया, बोल रहा है, लड़-झगड़ रहा है । लो, अब तो दौड़ लगा रहा है, हृष्ट-पुष्ट है, चार हाथ का जवान है । अरे ! यह क्या हुआ, झुर्रियाँ पड़ गईं । बाल काले न रहे । दाँत मुख-कन्दरा से भाग रहे हैं । यह सब जीवन है । क्रियाशीलता जीवन का चिह्न है । जब तक जीता है, भली-बुरी क्रिया निरन्तर करता है ।

सोया मनुष्य भी तो कुछ नहीं करता । केवल साँस लेता है । —मृतक तो साँस नहीं लेता, किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करता है । —जीवित और मृतक के इस भेद के कारण वेद उपदेश करता है—

मा गतानामादीधीथाः । मरों की चिन्ता मत कर ।

मरों की चिन्ता से कोई लाभ नहीं । वे मर गए, अब न वे हमारा उपकार वा अपकार कर सकते हैं, और न हम ही उनका कुछ संवार या बिगाड़ सकते हैं । फिर उनकी चिन्ता से लाभ ?

महाभारत में आता है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।

पण्डित जन, ज्ञानी लोग मरों की चिन्ता नहीं करते ।

क्यों ? वेद कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् । य० ४०।१५

जीवन क्या है, शरीर और आत्मा का मेल । शरीर के साथ आत्मा का संबन्ध होने पर जीवन का चिह्न प्राण भी शरीर में डेरा आ लगाता है । आत्मा ने शरीर छोड़ दिया या आत्मा से शरीर छुड़ा दिया गया, तो प्राण भी चल दिया, उसकी आत्मा से प्रीति थी । प्रियतम नहीं रहा, वह रहकर क्या करे ? उसके बिना यह कर भी कुछ नहीं सकता । आत्मा और प्राण चले गए अब शरीर ......। आह ! यह सुन्दर लावण्यमय शरीर ! आकर्षणसाधन

शरीर! मुट्ठी-भर मिट्टी होकर रह गया। जीवन-लीला समाप्त हुई। प्यार करे तो किस से? आत्मा के रहते इस शरीर को सजाते हैं। आत्मा के जाने पर, इस शरीर को जलाते हैं। कोई इसे घर में रखने को तय्यार नहीं। ज्ञानी ने देखा, आत्मा चला गया, कहाँ गया, कुछ पता नहीं। खोज-खबर लगाने का कोई ढंग नहीं। उसका प्यार आत्मा से है, वह आत्मन्वी प्राणी की ओर झुकता है। निष्प्राण को, अनात्मपदार्थ को छोड़ देता है।

मृतक का चिन्तन जीवन से दूर ले जाता है! जीवन प्रकाश है। मरण अन्धकार है। अतः वेद का उपदेश है—

आ रोह तमसो ज्योतिः।

अन्धकार को छोड़कर प्रकाश पर आरूढ़ हो।

वेद प्रकाश का उपदेशक है। वेद का अर्थ है—ज्ञान,ज्ञानसाधन, ज्ञान का अधिकरण आदि २। ज्ञान प्रकाश है। वेद स्थान-स्थान पर प्रकाश की प्राप्ति पर बल देता है। इस पुस्तक के पहले मन्त्र में 'भानुमन्विहि=प्रकाश का अनुसरण कर,' ज्योतिष्मतः पथो रक्ष =प्रकाश के मार्गों की रक्षा कर,' तथा 'समिद्धस्य श्रयमाणः ऋ० [भली प्रकार प्रदीप्त प्रकाश का आश्रय करता है] और जीवा-ज्योतिरशी महि। ऋ० [जीते जी प्रकाश प्राप्त करें] इत्यादि अनेक वेदवाक्य प्रकाश-प्राप्ति के सम्बन्ध में हैं।

वेद के व्याख्याकार ब्राह्मणग्रन्थकर्त्ता ऋषि भी कहते हैं—

'तमसो मा ज्योतिर्गमय, (श०) [मुझे अन्धकार से हटा कर प्रकाश की प्राप्ति करा] सारा वैदिक साहित्य प्रकाशप्रचारक है। होना भी चाहिये।

क्योंकि अंधकार उल्लू को या उस जैसों को पसन्द आ सकता है। वेद तो उलूकयातुं जहि--उल्लू का स्वभाव छोड़ने का उपदेश

करता है । वेद में मनुष्य बनने का प्रथम साधन 'मानुमन्विहि' प्रकाश का अनुसरण बताया गया है । मरों का क्या अनुसरण ? गुरु जीता ही अच्छा होता है । जीता गुरु ही शिष्य को संवार-सुधार सकता है । जीवन ज्योति है और ज्योति जीवन है, अतः वेद कहता है—

आ रोह तमसो ज्योतिः ।

ज्योति-प्राप्ति के लिए, जीवन लाभ के लिए, मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए, उद्योग करना चाहिए । अनुद्योगी, आलसी तो प्रकाश प्राप्त करके भी अन्धकार में रहता है । अतः वेद कहता है–

एहि, आ, गतिकर. सब ओर चल ।

क्या कहते हो ? मेरे हाथों में बल नहीं, अतः चेष्टा नहीं कर सकता । गुरुओं के गुरु परम ज्ञानी गुरु कहते हैं—

एहि, आ ते हस्तौ रभामहे ।

आ, आ, हम तेरे हाथों को वेगयुक्त करते हैं ।

जो पुरुषार्थी है, उसके सभी सहायक हो जाते हैं । संसार की सब शक्तियां उसके अनुकूल हो जाती हैं, तू भी पुरुषार्थ कर ।

मरने वाले मर गये, उनकी ओर देखने से क्या बनेगा ? उनका बार-बार विचार मौत का शिकार बनाएगा । वेद (अ० ८।१।७) में कहा है—मा जीवेभ्यः प्रमदः=जीवितों से प्रमाद न कर । बार-बार मरों का विचार जीवितों से उपेक्षा उत्पन्न करता है और धीरे-धीरे अपने जीवन से भी उपेक्षा होने लगती है । यह प्रवृत्ति घातक है । यह तो तम है । अतएव अभद्र है । नीतिकार कह गए हैं—जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति=जीता हुआ मनुष्य सैंकड़ों भलाइयों का अनुभव करता है । इसी कारण वैदिक ऋषि दीर्घजीवन प्राप्ति के लिए यत्न किया करते थे । वे काल को

ललकार सकते थे। भला, सोचो मरों की चिन्ता, जीतों की उपेक्षा, यह कैसी बात है। मरों की चिन्ता छोड़कर जीतों का ध्यान कर, उनके जीने की सुखसंविधा का सामान कर।

* ज्ञानलोक से लाभ *

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम ।
दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः॥

य० ८ । ५२

सत्रस्य ऋद्धिः असि—तू सत्र की, यज्ञ की ऋद्धि है।
ज्योतिः अगन्म—हम ज्योति को प्राप्त हुए
अमृताः अभूम—[और] अमर =जीवित होगए।
पृथिव्याः—पृथिवी से, अन्धकार से।
दिवम्—द्युलोक को, प्रकाश को
अधि+आ+अरुहाम्—अधिकार पूर्वक आरूढ़ हुए हैं।
देवान्—देवों को, दिव्यगुणों को,
स्वः—आनन्द को।
ज्योतिः—[तथा] प्रकाश को
अविदाम—हमने प्राप्त किया है।

प्रकाश-प्राप्ति का फल इस मन्त्र में कहा गया है।

सत्र लम्बे यज्ञ का नाम है। १२ दिन अथवा इससे अधिक काल तक जो यज्ञ चलता रहे उसे सत्र कहते हैं। लोकोपकार का नाम यज्ञ है। ज्ञानशून्य मनुष्य लोकोपकार नहीं कर सकता। जब लोक की अवस्था, दशा, परिस्थिति का ज्ञान न हो, लोगों को किस वस्तु की आवश्यकता है, किस बात का उनमें अभाव है, इस बात का बोध किए बिना कौन लोगों का उपकार कर सकता है? लौकिक परिस्थिति का जितना अधिक ज्ञान होगा, उतना परोपकार अधिक हो सकेगा। इस तत्त्व को सामने

रखकर परमगुरु भगवान् ने उपदेश दिया—सत्रस्य ऋद्धिरसि= —तू परोपकार की, यज्ञ की, ऋद्धि=समृद्धि करने वाला है।

सचमुच ज्ञानी, और ज्ञानालोक परोपकार को बढ़ाने वाले होते हैं।

ज्ञान की महिमा का पूरा बखान कौन कर सकता है? ज्ञान जीवन है। अज्ञान मृत्यु है। देखिए पशुपक्षियों में नैसर्गिक ज्ञान होता है; किन्तु उस स्वाभाविक ज्ञान के अतिरिक्त उनमें वैनयिक=शिक्षादि साधनों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान नहीं होता। उसका फल यह है कि सृष्टि के आरम्भ से आज तक पशु अपने रहन-सहन, खान-पान, आहार-विहार और आचार-व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्त्तन, उन्नति या अवनति, वृद्धि या ह्रास नहीं कर सके। प्रकृति माता या जगद्विधाता ने जिस परिस्थिति में उन्हें डाल दिया है, वे विवश हुए, जड़यन्त्र की भाँति उसके अनुकूल आचरण किए जा रहे हैं। अनेक पक्षी ऋतुपरिवर्त्तन के साथ स्थानपरिवर्त्तन के लिए भी बाधित होते हैं। सारस, क्रौंच (कूंज) आदि पक्षी इसका उदाहरण हैं। इसके विपरीत मनुष्य को वैनयिक बुद्धि प्राप्त करने के साधन भी मिले हैं। इन साधनों का फल छोटी पाठशाला से लेकर विशाल विश्वविद्यालय है, जहाँ मनुष्यों को सब भाँति के ज्ञान-विज्ञान सिखाए जा रहे हैं, कलाकौशल सिखाए जा रहे हैं। और इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान में नित्यप्रति वृद्धि हो रही है। इस ज्ञानवृद्धि के कारण मनुष्य अपने शरीर को अधिक से अधिक सुखी कर रहा है।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने मनुष्य को ज़बान (वाणी) तथा वेदज्ञान का दान देकर समस्त जीवधारियों का शिरोमणि बना दिया। उस ज्ञान—सब ज्ञानों के बीज रूप ज्ञान—के सहारे मनुष्य एक महान् ज्ञान-वृक्ष को पल्लवित और पुष्पित कर सका

है। सबसे पहले मनुष्यों के पास रेल, जहाज, वायुयान की कौन कहे, टांगा या बैलगाड़ी भी न थी। बैलगाड़ी या टांगा क्यों, बैल या घोड़ा भी न था। सवारी के लिए, कहीं जाने के लिए टांगें—केवल टांगें-ही थीं। आज मनुष्य के पास मोटर हैं, वायु-यान हैं; जिन्होंने वर्षों की यात्रा को दिनों की बना दिया है। यह किसकी कृपा है ? कहना पड़ता है ज्ञान की। इस ज्ञान ने मानव को कितना महान् कर दिया है !

सृष्टि के आरंभ के मनुष्य कुछ दिन तो अवश्य नंगे फिरे होंगे। प्रभुप्रदत्त वेदज्ञान उनके पास था, उसके सहारे से बहुत देर बाद ही वे वस्त्र बना पाए होंगे ! नंगापन दूर करने का विचार भले ही देर में उत्पन्न हुआ हो पर शीत, आतप, वर्षा से बचने की भावना तो जन्म के साथ ही आई होगी। हा ! कितने जन उपयुक्त सामग्री के अभाव में मरे होंगे ! आज के मनुष्य के पास वस्त्रों की, शीत-आतप-निवारण-सामग्री की विपुलता है। हमारे ज्ञानजन्य अज्ञान के कारण; सामाजिक कुव्यवस्था के कारण, विपुलता में अल्पता है। आज मनुष्य समाज का अधिक भाग नंगा है। इसी प्रकार भोजन-सामग्री का विचार करलें।

किसी भी दृष्टि से विचारें; आज का मनुष्य आरम्भ के मनुष्य से अधिक समृद्ध है। आज के मनुष्य को जीवन की सामग्री, शरीर-यात्रा चलाने के उपकरण अधिक मात्रा में प्राप्त हैं। यह किसकी कृपा से ? ज्ञान की दया से। अतः आज का मनुष्य गर्वपूर्वक कह सकता है—

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम=

हमने ज्ञान प्राप्त किया और उससे हम अमृत=अ+मृत न+मृत=जीवित होगए। मौत के फन्दे से निकल गए।

आज शीत के कारण मौत असंभव-सी होगई है। आतप से होने वाली मृत्यु को रोकने के यथेष्ट प्रबन्ध हैं। रोगादि से

होने वाली मृत्युमात्रा भी न्यून हो गई है।

जिन महापुरुषों ने अपनी जान जोखिम में डालकर मनुष्य-समाज को सुख-संपन्न करने का पुण्य-प्रयास किया; वे भी अमृत होगए। जब तक यह सृष्टि है उन महात्माओं का यशःशरीर बना रहेगा। वे भी कह सकते हैं—

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम=

हमने लोगों तक ज्ञानज्योति पहुँचाई, हम अमृत=अमर हो-गए।

जिस प्रकार इस भौतिक ज्ञान की वृद्धि के कारण भौतिक मृत्यु के साधनों की न्यूनता हो गई है, उसी प्रकार आत्मिक ज्ञान की उन्नति के साथ आत्मिक मृत्यु के कारणों का अभाव भी संभव है। जो महात्मा आत्म-ज्योति को पा लेते हैं; वे अमर हो जाते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में बहुत उत्तम रीति से इस तत्त्व को समझाया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

जो ज्ञान और कर्म्म का एकसाथ अनुष्ठान करता है, वह कर्मानुष्ठान से मृत्यु को पार करके ज्ञान के द्वारा अमृत=मोक्ष=अमर जीवन को प्राप्त करता है।

मरण के साथ जनन लगा हुआ है किन्तु ज्ञान=यथार्थ-ज्ञान, आत्मज्ञान, मनुष्य को अमर जीवन प्रदान करता है। वह इसे जनन-मरण के चक्र से छुड़ा देता है।

मनुष्य पृथ्वी पर रेंग रहा था, कीड़ों से कोई विशेष भेद न था। ज्ञान के कारण वह पृथ्वी से उठकर, उड़कर आकाश में चला गया है—

दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम—पृथ्वी से उठकर हम आकाश में चढ़ गये।

क्या हुआ? पक्षी भी तो उड़ते हैं, वे भी पृथ्वी से ऊपर उड़कर अन्तरिक्ष में चले जाते हैं। बहुत बड़ी बात हुई। पक्षी को भगवान् ने बनाया ही ऐसा है। उड़ने में पक्षी की कोई चतुराई नहीं। मनुष्य ने प्रभु के दिये ज्ञान का उपयोग किया, और वह भी पक्षी की भाँति आकाश में उड़ने लगा।

क्या हुआ? आखिर को पक्षी ही बना। पक्षी से फिर भी छोटा रहा, क्योंकि पक्षी का अनुकरण किया।

न! पक्षी अकेला उड़ता है, मनुष्य अनेकों को साथ ले जाता है। रहा तो फिर भी पक्षी जैसा ही न! थोड़ा सा भेद हुआ तो क्या?

न! पक्षी उड़ा, कुछ उसने आकाश की सैर की, कुछ नीचे भोजन देखा। मनुष्य उड़ा, उसने देखा द्युलोक। वहाँ किसी सहारे के बिना लटकते देखे तारे, सूर्य्य, चन्द्र! उसके मन में जिज्ञासा हुई कौन इन्हें थामे हुए है? उत्तर मिला—भगवान्—स्वर्ज्योतिः! अर्थात् अधर में लटकते, भटकते तारों ने उसे तारक ब्रह्म का बोध कराया। तब कह उठा वह मस्त होकर—

दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम् देवान् स्वर्ज्योतिः।

मैं इस पृथ्वी से=भौतिक दशा से, जड़ता से, अन्धकार से ऊपर उठा; पहुँचा द्यौ में, प्रकाश में, चेतनता में। मैंने देखे देव, चमकते तारे, अपने भोग के सहारे (इन्द्रिय); उन्होंने मुझे उस आनन्दमय, ज्योतिर्मय की झाँकी दिखाई। अब मैं कहता हूँ—

अविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः।

❀ विद्या का नाश नहीं होता ❀

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो
नासामामित्रो व्यथिरो दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च
ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ।।

अ० ४ । २१ । ३ ।।

ताः न नशन्ति—वे नष्ट नहीं होतीं
तस्करः न दभाति-[उनको] चोर नहीं दबाता है ।
व्यथिरःअमित्रः—दुःखदायी-शत्रु [भी]
आसाम् न आ+दधर्षति—इनका तिरस्कार नहीं कर सकता ।
याभिः—जिनके द्वारा
देवान् यजते—देवयज्ञ करता है, विद्वानों का सत्कार और सत्संगति करता है ।
च ददाति—और दान करता है ।
गोपतिः—इन्द्रियस्वामी जीवात्मा
ज्योग्-निरन्तर
ताभिः सह—उनके साथ
सचते-संबद्ध रहता है ।

इस मन्त्र में ज्ञान के गौरव का विद्या के गुणों का मनन है ।

मनुष्य जो कुछ देखता सुनता है, उस सबका संस्कार उसके आत्मा पर पड़ता है । साधारण रीति से यही भासता है कि जो-कुछ हम देख सुन रहे हैं वह क्रिया उतने ही समय के लिए है, जितने समय तक वह देखने-सुनने का कर्म चल रहा है । क्योंकि ऐसा भी होता है कि हमने किसी स्थान-विशेष में कोई वस्तु देखी,

देखकर हम चले आए। फिर उसका कोई विचार नहीं उठता। किन्तु कभी-कभी सहसा अथवा किसी कारण से उसकी स्मृति जाग खड़ी होती है। यह कैसे होता है? देखने की क्रिया तो कभी की नष्ट हो चुकी। अब फिर उसके सम्बन्ध में यह स्मृति कैसी उत्पन्न हुई। मानना पड़ता है कि जो कुछ हम देखते-सुनते आदि हैं उस सब का एक संस्कार पड़ता है, जो अनुकूल साधन पाकर स्मृति के रूप में जाग खड़ा होता है। भाव यह निकला कि हमारी सारी क्रियाओं=चेष्टाओं की, आत्मा पर, एक अमिट-सी छाप पड़ती है, जिसका मिटाना सरल नहीं है।

विद्या-ग्रहण करना भी एक क्रिया है, चेष्टा है। उसकी भी, आत्मा पर छाप पड़ती है, संस्कार पड़ता है, और वह संस्कार अमिट-सा है। इसीलिए वेद ने कहा—

न ताः नशन्ति=वे विद्या की छापें नष्ट नहीं होतीं।

संसार का धन, प्राकृतिक-सम्पत्ति, भौतिक ऋद्धि काल पाकर नष्ट हो जाती हैं। ये सब संयोग से आती हैं। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग— अवश्यंभावी है। धन-सम्पत्ति आज एक के पास है। कल चला-चंचलता उसे छोड़कर दूसरे के पास चली जाती है। वेद ने बहुत सुन्दर शब्दों में कहा भी है—

ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः॥

ऋ० । १० । ११७ । ५ ॥

धन तो रथ के पहियों की भाँति लोट-पोट होते रहते हैं, और दूसरों-दूसरों के पास जाते रहते हैं।

आज एक धनी है, कल वही निर्धन है। धन सांयौगिक पदार्थ है, सांयौगिक का वियोग होकर ही रहता है; किन्तु विद्या का नाश कैसे हो, वह आत्मा का गुण है। धन सांयौगिक है, चोर उसे चुरा सकता है, किन्तु विद्या को—

न दभाति तस्करः

चोर नहीं दबा सकता, डाकू नहीं छीन सकता।
—मानो इस मन्त्र के इस चरण का अनुवाद ही किसी कवि ने किया है—

हर्तुर्न गोचरं याति दत्ता भवति विस्तृता।
कल्पान्तेपि न या नश्येत् किमन्यर्द्विद्यया समम् ॥

—चोर की दृष्टि में आती नहीं और देने से बढ़ती है, सृष्टि नाश होने पर नष्ट नहीं होती। विद्या के तुल्य ऐसी और कौन वस्तु हो सकती है।

किसी विरोधी शत्रु का क्या सामर्थ्य जो विद्वान् को दबा सके, या विद्या का तिरस्कार कर सके—

नासामामित्रो व्यथिरो दधर्षति

कोई दुःखदायी शत्रु विद्या का नाश नहीं कर सकता। विद्या के बल से मनुष्य में उत्तमोत्तम श्रेष्ठ गुणों का विकास होता है, विद्या के कारण महाविद्वानों, ज्ञानियों की संगति में बैठने की योग्यता प्राप्त होती है। विद्यादान के कारण उसके पास गुणग्राही सज्जनों का सदा जमघट रहता है, और उभयतः आदर का पात्र होता है। विद्यावान् और विद्यार्थी दोनों ही वर्ग उसका सत्कार करते हैं। विद्वानों की संगति से उसे दान देने—विद्यादान—की उत्तेजना मिलती है और वह देता है। वेद कहता है—

देवांश्च याभिर्यजते ददाति च

जिनके द्वारा विद्वानों का संग करता है और विद्यादान करता है।

किसी कवि ने मानो इसी मन्त्रचरण का आशय ही कहा है—

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥

—जैसे नदी—नीचे जाने वाली नदी समुद्र ऐसे महाशय जलाशय से जा मिलती है। इसी प्रकार विद्या चाहे वह नीच पुरुष में क्यों न हो, वह उस विद्यावान् को राजा से मिला देती है और फिर भाग्य से।

कहीं किसी को भ्रम न हो जाए, कि जैसे धन-सम्पत्ति दान देने से घट जाती है, जैसे किसी के पास एक करोड़ रुपये हैं, वह यदि पचास लाख किसी को दे दे, तो उसके पास शेष पचास लाख रह जाएँगे, या किसी के पास पचास हज़ार बीघे भूमि है, उसमें से वह दस हज़ार बीघे भूमि किसी को दे डाले, तो उसके पास चालीस हज़ार बीघे शेष रह जाएँगे; इसी प्रकार संसार की दूसरी सम्पत्तियों की दशा है, वे देने से घटती हैं और अवश्य घटती हैं, ऐसे ही विद्या भी दान देने से, बाँटने से घट जाती होगी। वेद इस भ्रम का मानो निरास करता हुआ कहता है—

ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ।

—ऐसा ज्ञानपति—ज्ञानवान्—विद्या का निरन्तर दान करने वाला ज्ञानधन का धनी—निरन्तर विद्या से सम्बद्ध रहता है। अर्थात् देने से विद्या बढ़ती ही है, घटती नहीं है, अतः विद्यार्जन में पुरुषार्थी होकर विद्यादान में उससे भी अधिक उद्योग करो। वेद कहता है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर । अ० ३।२४।५

—(सौ हाथों से कमा और हज़ार हाथों से बिखेर)

यह वचन कदाचित् विद्या के सम्बन्ध में ही है।

किसी कवि ने विद्या की महिमा गाते हुए कहा है—

ज्ञातिभिर्वण्ठ्यते नैव चौरेणापि न नीयते ।
दाने नैव क्षयं याति विद्यारत्नं महाधनम् ॥

—विद्यारत्न रूपी महाधन को सम्बन्धी लोग बाँट नहीं सकते, चोर इसे ले जा नहीं सकता, दान से यह नष्ट नहीं होता ।

एक दूसरे कवि ने कहा—

न चौरहार्य्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥

इसे चोर नहीं चुरा सकता, राजा नहीं छीन सकता, भाई नहीं बाँट सकते, फिर इसका कोई भार नहीं । व्यय करने पर नित्य बढ़ता ही है । अतः विद्यारूपी धन सब धनों में प्रधान है, मुख्य है ।

इसलिए विद्या की वृद्धि में सदा उद्योग करना चाहिए, क्योंकि वैदिक-धर्म्म का विद्या के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है । मनु महाराज ने धर्म्म के दस लक्षणों में विद्या को स्थान दिया है । यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥

धृति=धीरज=हौसला, कार्य में विघ्न आने पर न घबराना; क्षमा=सहनशीलता; दम=मन को वश में रखना, मन की चंचलता दूर करना; अस्तेय=चोरी न करना, पराये पदार्थ का अनुचित रीति से प्रयोग न करना; शौच=अन्दर बाहर की शुद्धता; इन्द्रियनिग्रह=इन्द्रियों का वश में रखना, ब्रह्मचर्य्य; धी=बुद्धि; विद्या=ज्ञान; सत्य=जो पदार्थ जैसा है, उसे ठीक-ठीक जानकर वैसा मानना कहना, करना; अक्रोध=क्रोध न

करना, मन वचन तथा कर्म्म से किसी को दुःख न देना अथात् अहिंसा।

वेद का मुख्य अर्थ भी विद्या का साधन है। विद्या के बिना मनुष्यत्व रह नहीं सकता, अतः वेद और वेदानुकूल विद्या पर बहुत बल देते हैं।

विद्या के इस महत्व को जान विद्या के ग्रहण करने और प्रचार में सब को यत्न करना चाहिये।

❀ उसी से पूछो ❀

तं पृच्छता स जगामा स वेद
स चिकित्वाँ ईयते स न्वीयते ।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः
स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ॥

ऋ० १ । १४५ । १ ॥

तम् पृच्छता–उसीसे पूछो ।
सः जगाम–वह पहुँचा हुआ है ।
सः वेद–वह जानता है, ज्ञानी है ।
सः चिकित्वान्–वह समझा सकता है [अज्ञान-] रोग को दूर कर सकता है
ईयते–[अतएव] प्राप्त किया जाता है ।
नु सः ईयते–सचमुच वह प्राप्त किया जाता है ।
तस्मिन् प्रशिषः सन्ति–उसमें उत्तम शिक्षाएँ हैं ।
तस्मिन् इष्टयः–उसमें सत्कर्म-और भद्रभाव हैं ।
सः वाजस्य–वह ज्ञान का, प्रेरणाशक्ति का,
शवसः–बल का ।
शुष्मिणः–शोषक शक्ति का
पतिः–स्वामी है ।

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य तो ब्रह्म है । किन्तु जो मनुष्य इसको अपना लक्ष्य नहीं मानते उन्हें भी यह स्वीकार है कि ज्ञान के बिना मनुष्य मनुष्य-पद का अधिकारी नहीं । पशु और ज्ञानहीन मनुष्य में आकृति के भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है । तभी तो नीतिकारों ने कहा है ।

'विद्याविहीनः पशुः' अर्थात् विद्या से शून्य मनुष्य पशु है।

क्योंकि विद्या हि तेषामधिको विशेषः

विद्या ही मनुष्यों में पशुओं से अधिक और भेद करानेवाला गुण है।

जिस विद्या की इतनी महिमा है, वह कहाँ से प्राप्त करनी चाहिये? वेद का इस विषय में एक निश्चित सिद्धान्त है, जो इस मन्त्र में प्रकाशित किया गया है। बहुत ध्यान और सावधानता से इस तत्व का श्रवण एवं मनन करना चाहिये। वेद कहता है—

तं पृच्छता स जगामा स वेद।

'उसे पूछो जो पहुँचा हुआ है, जो जानता है (जानकार है)।'

—जिस मार्ग को जिसने देखा नहीं, वह उसे दिखाएगा कैसे? उसपर चलाएगा किसी को कैसे? सुने सुनाए में भ्रान्ति हो सकती है। निश्चित रूप में तो वही बोल सकता है, जिसने स्वयं वह मार्ग देखा हो, जहाँ तक जाना है, वहाँ पहुँच चुका हो। तत्व को वेद ने इस प्रकार कहा है—

'स जगाम'—'वह (जो) पहुँचा हुआ है।'

—मार्ग चलकर जो लक्ष्य पर पहुँच चुका है। उसे मार्ग का अनुभव है, वह ले जा सकता है।

संसार में ऐसे अनेक जन हैं, जो किसी कला में प्रवीण हैं किन्तु दूसरे को समझा नहीं सकते, सिखा नहीं सकते। यह आवश्यक नहीं कि व्याकरणाचार्य्य परीक्षोत्तीर्ण पण्डित व्याकरण पढ़ा भी सकता हो। पढ़ाने के लिए, दूसरे को सिखाने के लिए कुछ अतिरिक्त गुण भी चाहिएँ, केवल मार्ग का देखना मात्र पर्याप्त नहीं है। इस भाव को लक्ष्य करके वेद आदेश करता है—

स वेद —'वह जानकार है ।'

आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा; दमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा; शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥ तै० उ० शिक्षावल्ली ४ । २ ॥

'मेरी सच्ची कामना है कि मुझे सब ओर से ब्रह्मचारी (शुभव्रतधारी) ईश्वरजिज्ञासु प्राप्त हों। मेरी प्रभु से अन्तस्तल से प्रार्थना है कि मुझे विविध देशदेशान्तरों से ब्रह्मचारी मिलें। मेरी यह भावना है कि मुझे ब्रह्मचारी (वेदब्रह्माभिलाषी) उत्तमता से प्राप्त हों। जो ब्रह्मचारी मुझे मिलें, वे दांत हों, जितेन्द्रिय हों। मन उनका वश में हो, ऐसी मेरी बलवती अभिलाषा है। मेरे संसर्ग में आने वाले शान्त हों, उपद्रवरहित हों। न उन्हें किसी प्रकार का विक्षेप हो और न वे किसी के विक्षेप का कारण बनें।'

ऐसे श्रेष्ठ गुरु का शिष्य बनना कौन नहीं चाहेगा ?

यद्यपि उसने प्राप्तव्य प्राप्त कर लिया है, जिसे त्यागना था, उसे त्याग दिया है। अब उसे कुछ प्राप्त करना या त्याग करना शेष नहीं है और अतएव उसे किसी काम्यकर्म्म की आवश्यकता नहीं, किन्तु फिर भी—

तस्मिन्निष्टयः । 'उसमें सभी श्रेष्ठ कार्य हैं।'

—उसने श्रेष्ठ कर्म्मों का त्याग नहीं किया। क्योंकि वह है आचार्य्य। और आचार्य्य का अर्थ है—

आचारं ग्राहयति । 'जो शिष्यों को आचार सिखलाए।'

—जो स्वयं आचारवान् नहीं, वह दूसरों को आचार क्या सिखाएगा। अतः परमोत्तम कोटि के ज्ञानी सब कुछ प्राप्त करके भी निष्काम होकर भी, निष्कर्म्मा नहीं होते। लोकसंग्रह के लिए निर-

न्तर कर्म्म करते हैं, सत्कर्मों का कभी त्याग नहीं करते। वेदाज्ञा भी ऐसी ही है--

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ॥ य० ४० ।२

सत्कर्म्म करता हुआ ही मनुष्य सौ वर्ष (पूरी आयु) जीने की इच्छा करे।

इस प्रकार के कर्म्मठ ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय का एक और गुण है—

स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ।

वह ज्ञान; बल एवं शोषणशक्ति का स्वामी है। अर्थात् उसमें यह सामर्थ्य है कि अपना ज्ञान दूसरों में संक्रान्त करदे। उसके पास जाकर निर्बलों को, ढिलमिल स्वभाववालों को बल, दृढ़ता और उत्साह मिलता है। उसके संग में बड़े-बड़े नास्तिक आस्तिक बन जाते हैं। अतः ऐसे गुरु को अवश्य अपनाना चाहिये।

संक्षेप से इस मन्त्र के अनुसार गुरु में ये गुण होने चाहिएं—

१. वह पहुँचा हुआ हो अर्थात् साक्षात् कर चुका हो।
२. विघ्न-बाधाओं का जानकार हो।
३. जिज्ञासु की शंकाओं को दूर कर सकता हो।
४. शिष्यों के कल्याण की कामना सदा करता हो।
५. स्वयं निरन्तर सत्कर्म्म करनेवाला हो। अकर्म्मा या विकर्म्मस्थ न हो।
६. उसके संग में आने पर सत्कर्म्म प्रवृत्ति, विश्वासवृद्धि और अविश्वासनाश स्वयं होजाए।

ऐसा गुरु सचमुच शिष्य को तार देगा, अतः उसी से ही जिज्ञासा करनी चाहिए।

———

* निरभिमान होकर जिज्ञासा कर *

तमित्पृच्छन्ति न सिमो विपृच्छति
स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत् ।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो
अस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः ॥

ऋ० १।१४५।२

तम् इत्-उसको [से] ही ।
पृच्छन्ति-पूछते हैं, प्रश्न करते हैं।
सिमः न-सब नहीं ।
विपृच्छन्ति-पूछते अथवा विरुद्ध प्रश्न करते या उलटा पूछते हैं।
धीरः-[जिस] धीर ने, ध्यानी ने
इव-मानो ।
स्वेन मनसा-अपने मन से ।
यत् अग्रभीत्-जिसको ग्रहण कर लिया ।
न प्रथमम्-न पहली [और]
न अपरं वचः-न दूसरी बात
मृष्यते-मसली जाती है ।
अस्य-इस [ज्ञानी] के ।
क्रत्वा-ज्ञान से, कर्म्म से ।
अप्रदृपितः-निरभिमान ।
सचते-सम्बद्ध होता है ।

जिज्ञासु को चाहिए कि जब उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो, तो हर एक से न पूछता फिरे। वरन् ऐसे मनुष्य से पूछे, जिसने उस तत्त्व का साक्षात्कार किया हो। मन से मानो उसे ग्रहण कर (पकड़) रखा हो। किसी वस्तु को मन से तभी पकड़ा

जा सकता है, जब उसका रहस्य हृदयंगम कर लिया गया हो। जिसने जिस तत्त्व का मनन नहीं किया, विचार नहीं किया, जिसको स्वयं उस पदार्थ का बोध नहीं वह जिज्ञासु को क्या समझाएगा ? वेद ने तभी तो कहा है—

स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत् 'स्वयं जिसने मननपूर्वक जिसको ग्रहण कर रखा है।'

जब जिज्ञासु यथार्थ ज्ञानी गुरु को प्राप्त कर ले, तब उसे चाहिए कि अपनी मन की शङ्का सीधे और स्पष्ट रूप में उसके आगे रख दे। इधर-उधर के व्यर्थ और उलटे प्रश्नों में अपना और गुरु का बहुमूल्य समय नष्ट न करे। अर्थात् जिज्ञासु गुरु के साथ जल्प या वितण्डा न करे। हार-जीत को सामने रखकर जो बातचीत की जाती है, शास्त्रकार उसे जल्प कहते हैं। हार-जीत को सामने रखकर जो बातचीत की जाय, और जिसमें नाम लेकर अपना मत या ज्ञान बताए बिना केवल दूसरे पक्ष-वाले का खण्डन ही किया जाय, उस बातचीत को वितण्डा कहते हैं।

गुरु और शिष्य की बातचीत को शास्त्रकार 'वाद' का नाम देते हैं। किसी-किसी शस्त्र में 'वाद' को 'संवाद' भी कहा गया है। और संवाद का अर्थ, 'शमाय वादः' 'समाय वादः' अर्थात् 'शान्तिप्राप्ति के लिए वाद' या 'समत्वप्राप्ति के लिए वाद' किया गया है। तात्पर्य्य यह कि प्रश्नोत्तर का उद्देश्य शान्तिप्राप्ति होना चाहिए। जिज्ञासा से चित्त में विकलता (बेचैनी) उत्पन्न होती है, उसको शान्त करना, बेचैनी दूर करना प्रश्न करने का लक्ष्य होना चाहिए। ऐसे जिज्ञासु की 'न मृष्यते प्रथमं नापरं वचः।' पहली और न दूसरी अर्थात् न मुख्य और न गौण बात मसली जाती है। अर्थात् कृपालु गुरु अत्यन्त कृपा और

धारणा से शिष्य की प्रत्येक बात का समाधान करता है। उसकी किसी बात का तीव्र प्रतिवाद करके उसका उत्साह भंग नहीं करता। 'न मृष्यते''वचः' का एक अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि उस जिज्ञासु की "न पहली और न दूसरी बात सही जाती है।" अर्थात् जो जिज्ञासु जिज्ञासु न बनकर जिगीषु (जीत का इच्छुक) बनकर पूछता है ज्ञानी गुरु उसकी किसी बात को सहन नहीं करते, वरन् तीव्र खण्डन करके उसका मान मर्दन कर देते हैं, उसके अहङ्कार को तोड़ देते हैं। अतः जब भी किसी आत्म-निष्ठ ब्रह्मविद् से जिज्ञासा करो, विनम्रता से तथा निरभि-मानिता से जिज्ञासा करो। इसी भाव को सम्मुख रखकर चौथे चरण में भगवान् ने समझाया है—

'अस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः।

'निरभिमान ही इसके ज्ञानकर्म्म से युक्त होता है।'

—जो अभिमानी बनकर आया है, उसे कोई क्यों कुछ बताने लगा। जो अभिमानशून्य होकर जिज्ञासा करता है, गुरु उसे अपना सारा ज्ञान और अनुष्ठान बता देता है। एक-एक रहस्य जिसे वह छिपाए बैठा है उसे अधिकारी समझकर बता देता है। केवल बताता ही नहीं, वरन् करा देता है, जिससे क्रियात्मक रूप में करने से उसके सारे संशय नष्ट होजाते हैं।

वेदादि शास्त्र जिज्ञासु के लिए निरभिमानिता पर बहुत बल देते हैं। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने अपने निरुक्तशास्त्र (२।१।४) में किसी पुराने आप्त का वचन उद्धृत किया है। वह मानो इस मन्त्र के चौथे पाद की व्याख्या है। वह इस प्रकार है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्॥

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली, मेरी रक्षा कर, मैं तेरी कल्याणकारिणी हूँ, निधि हूँ। ऐसे मनुष्य को मेरा उपदेश न करना, जो असूयक=निन्दक (ईर्ष्यालु) हो, कुटिल हो, अजितेन्द्रिय हो, ताकि मैं बलवती बनूं। जिसको तू पवित्र, अप्रमादी, बुद्धिमान्, ब्रह्मचारी समझे और जो तेरी कभी निन्दा न करे, हे ब्रह्मवेत्ता ! उसे मेरा उपदेश करना।

इसी से मिलते-जुलते वचन मनुस्मृति में मिलते हैं।

विद्या ब्रह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥
यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥

मनु० २।११४,११५

—विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली, मैं तेरी कल्याणकारिणी हूँ, मेरी रक्षा कर। निन्दक के प्रति मुझे न देना, ताकि मैं अत्यन्त बलवती हो सकूं। जिसको तो तू पवित्र और नियमपूर्वक ब्रह्मचारी जाने, उस प्रमादरहित मेधावी ब्रह्मचारी के प्रति मेरा उपदेश कर।

तात्पर्य यह है कि विद्यारत्न, विशेष कर ब्रह्मविद्यारूपी महामूल्य रत्न उसको देना चाहिए, जो उसे सम्भाल सके। घमण्डी मनुष्य प्रमादी होता है। वह अमूल्य निधि को, बहुमूल्य कोष को नहीं सम्भाल सकता। अतः वह इसका अधिकारी नहीं है। प्रमादी मनुष्य तो ज्ञान, विशेषकर तत्त्वज्ञान को समझ ही नहीं पाता। जैसा कि यम ने नचिकेता को मार्मिक शब्दों में कहा है—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेनमूढम् । (कठोप.)

बालक, प्रमादी तथा धनमद से उन्मत्त हुए को यह सांपराय (आना-जाना) संसार-सार, सूझता नहीं।

जो मनुष्य कर्त्तव्य के समय कार्य्य न करके दूसरे समय के लिये टाल देता है, वह प्रमादी है। गुरु उपदेश देने को तैय्यार हैं, शिष्य प्रमाद का शिकार होकर सुनने या ग्रहण करने को तैय्यार नहीं है। ऐसे को उपदेश देना उस पर अत्याचार करना है। उस की मनोभूमि उपदेश बीज को धारण करने के अयोग्य, असमर्थ है। अर्थात् ऊसर है। उसमें बीज डालना बीज को गंवाना है। इसी बात का विचारकर शास्त्रकारों ने अधिकारी और अनधिकारी की चर्चा की है।

स्वयं भगवान् ने जिज्ञासु में इन लक्षणों का होने आवश्यक बतलाया है। यथा—

प्राशृण्वते अदृपिताय मन्म नृचक्षसे सुमृळीकाय वेधः।
देवाय शस्तिममृताया शंस ग्रावेव सोता मधुषुद्यमीळे ॥*

ऋ० ४।३।२

हे बुद्धिमान्! मेघ के समान यज्ञ करनेवाला, मधुर पदार्थों के सृजन करनेवाला मैं जिसकी स्तुति करता हूँ, ऐसे पूरी तरह सुननेवाले, घमण्ड न करनेवाले, मनुष्यता को सफल करने वाले, प्रसन्न करनेवाले, शान्त स्वभाववाले जिज्ञासु को ज्ञान तथा शिक्षा सिखा।

इस मन्त्र में भी जिज्ञासु के लिए अदृपित (निरभिमान) होना आवश्यक बताया गया है।

---

*इस मन्त्र के शब्दार्थ के लिए 'वेद प्रवेश' प्रथम भाग, पृष्ठ ६ देखिए।

सारांश यह कि जिज्ञासु जहाँ गुरु की परख करे। (गुरु में अपेक्षित गुणों के न होने पर उससे दूर रहना ही अच्छा है)। वहाँ गुरु का कर्तव्य है कि वह भी शिष्य की भली-भांति परीक्षा करे और देखे कि यह जिज्ञासु है या जिगीषु है, अर्थात् यह पढ़ने आया है या लड़ने आया है। दूसरा यह भी गुरु को देखना चाहिये कि किस प्रकार वह मनुष्य जिज्ञासु बनाया जा सकता है, जिससे उसका कल्याण हो।

इससे पूर्व छठे मन्त्र में गुरु के लक्षण बताए गए हैं। गुरु पहुंचा हुआ सिद्ध होना चाहिए। अर्थात् उपदेश करने योग्य तत्त्व का पारगामी ज्ञाता होना चाहिए। उसे उपदेश्य वस्तु के सम्बन्ध में जहाँ सामान्य ज्ञान हो, वहाँ विशेष ज्ञान भी होना अनिवार्य है, अर्थात् उसके संबन्ध में होनेवाली सभी शङ्काओं, संशयों को दूर करने में पूर्णतया समर्थ होना गुरु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस सातवें मन्त्र में शिष्योचित गुणों की चर्चा है। शिष्य अदर्पित (अभिमान रहित) विनीत होना अनिवार्य्य है। विनय के अभाव में वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकेगा। विनय के साथ शिष्य में सावधान होकर गुरु वचन को श्रवण करने तथा मनन करने की शक्ति होनी चाहिए, अर्थात् आलस्य तथा प्रमाद से रहित शिष्य ही विद्या का पात्र होता है। मनुष्यत्व सम्बन्धी परमज्ञान आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता एवं अविनय से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

* अधिक कल्याण प्राप्त कर *

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि
बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या
आरे शत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥

भद्रात्–भले से ।
अधि–अधिक, ऊपर ।
श्रेयः–श्रेय, कल्याण ।
प्रेहि–प्राप्त कर ।
बृहस्पतिः–बड़ों-बड़ों का भी स्वामी, वेदज्ञानी
ते–तेरा
पुरः एता–अगुवा, नेता ।
अस्तु–होवे ।
अथ–और ।
अस्याः पृथिव्याः–इस पृथ्वी से ।
इमं–इसे ही ।
आ वरः—चुन, पसन्द कर
सर्ववीर–सब वीरों से युक्त
शत्रुम्—शत्रु को
आरे कृणुहि–दूर कर ।

बहुत से मनुष्यों का स्वभाव होता है कि वे थोड़े से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं । वेद कहता है भले से अधिक या ऊपर कल्याण को प्राप्त कर । अर्थात् थोड़े से सन्तुष्ट न हो, अधिक से अधिक प्राप्त करने का यत्न कर । नारद को सनत्कुमार समझाते हुए कहते हैं—

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं,

भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ॥ छां० उ० ७ । २३ । १ ॥
—जो ही भूमा (बड़ा) है, वह सुखकारी है। थोड़े में सुख नहीं है, भूमा ही सुखकारी है। अतः भूमा ही को तो जानना चाहिए।

थोड़े से भद्र को प्राप्त कर उस पर सन्तुष्ट होने को सांख्य-शास्त्र में तुष्टिनाशक दोष माना गया है। अतः मनुष्य को सदा अधिक उन्नत होने का यत्न करना चाहिए।

इस सामान्य उपदेश के साथ एक गम्भीर आशय है। भद्र का लक्षण वेद में इस प्रकार लिखा है—

सर्वं तद्भद्रं यद्वन्ति देवाः।

'जिसको विद्वान् लोग पसन्द करें, उसे भद्र कहते हैं।' अर्थात् भद्र (विद्वानों) की पसन्द की गई क्रियादि के द्वारा अधिक श्रेय प्राप्त कर। जो भलाई से अधिक श्रेय है उसे प्राप्त कर। वेद के ये शब्द श्रेय और प्रेय मार्ग का उपदेश कर रहे हैं और संकेत से कह रहे हैं कि प्रेय की अपेक्षा श्रेय को प्राप्त करना अधिक श्रेष्ठ है।

इस श्रेय प्राप्ति के लिए, इस दुर्गमघाटी में जाने के लिए तू बृहस्पति (परमज्ञानी) भगवान् को अपना अगुआ, नेता बना। प्रभु तक पहुँच नहीं है तो प्रभु के प्यारे ब्रह्मज्ञानी को अपना नेता बना। साधारण जन इस मार्ग पर नहीं ले जा सकते। कठोपनिषत् में ठीक ही कहा है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥
कठ० १ । २ । ८ ॥

यह ऐसा विषय है जिसका अनेक प्रकार से विचार किया जाता है, साधारण जन के उपदेश करने से, यह सरलता से समझ में नहीं आ सकता। यह स्वात्मसंवेद्य तत्त्व है जिसने इसका

स्वयं अनुभव नहीं किया, वह कैसे इसमें गति करा सकता है, यह अत्यन्त सूक्ष्म है। साधारण प्रमाणों के अनुसार इसकी तर्कणा भी नहीं की जा सकती।

हम दिन-रात लोगों को ब्रह्मविद्या पर व्याख्यान करते सुनते हैं। किन्तु श्रोताओं के पल्ले प्रायः कुछ नहीं पड़ा करता। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रायः स्वयं व्याख्याता को ही यह ज्ञात नहीं होता कि वह क्या बोल रहा है। जहां यह तत्व तर्क से परे है वहां यह भी है कि जब इस तत्व का साक्षात्कार हो जाता है तब संसार का कोई तर्क उससे साधक को हटा नहीं सकता। किसी के हाथ में आँवला पड़ा है, वह उसे देख रहा है उसने उसे चख भी लिया है। अब संसार का कोई बड़े से बड़ा तार्किक भी उसके उस ज्ञान को झुठला नहीं सकता। कठोपनिषत् में इस भाव को बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया।

'यह बुद्धि तर्क से नहीं हटाई जा सकती।'

कैसे हटाई जा सके ? प्रत्यक्ष से सभी प्रमाण नीचे हैं। अतः सावधान होकर श्रेय और प्रेय का ज्ञान करके उन दोनों का भेद समझकर प्रेय की अपेक्षा श्रेय प्राप्त कर। जब तू इस मार्ग की ओर अग्रसर होगा तो स्वयं प्रभु तुझे इस मार्ग पर चलाएंगे।

इस पृथिवी के सारे पदार्थों में यही वरण करने, चुनने योग्य पदार्थ है। संसार के सारे पदार्थ उत्पाद-विनाशशाली हैं, पैदा होते और मरते हैं, आते और जाते हैं। एक श्रेयः ही ध्रुव है। यम नचिकेता को कहता है—

जानम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोग्नि—
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥

क० उ० १।२।१० ॥

मैंने जान लिया है कि धन-दौलत सब अनित्य हैं, इन अनित्य पदार्थों से ध्रुव (नित्य) अविनाशी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः मैंने नाचिकेत अग्नि (सन्देहों को भस्म करने वाली योगाग्नि) का चयन किया है, तब इन अनित्यद्रव्यों [के त्याग के] द्वारा नित्य को प्राप्त कर सका हूँ।

इस श्रेयोमार्ग पर चलना बहुत कठिन है यह मार्ग विघ्न-बाधाओं से भरपूर है, पग पग पर शत्रु खड़े हैं। शत्रु भी साधारण नहीं हैं, वे सभी वीर-महावीर हैं। उन्हें देखकर पथिक को कंपकंपी आने लगती है। पथिक का—साधक का कर्त्तव्य है कि वह इन शत्रुओं को मार कर आगे चले। काम, क्रोध आदि शत्रु साधक का मार्ग रोककर खड़े हैं, ये ऐसे शत्रु हैं जो मित्र का रूप धर पथिक को मार्ग से बिदका देते हैं, बहका देते हैं। भगवान् को अगुआ बनानेवाले पथिक शीघ्र इन शत्रुओं का रूप जान लेते हैं। ये असुर हैं 'रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः' रूप बदलकर सामने आते हैं। अतः इन असुरों के चकमें में साधक को नहीं आना चाहिए, वरन् इनका नाश करना चाहिए। किसी साधक ने सावधान करते हुए कहा है—

"जाग जाग रे बटोही यहाँ चोरों का डर रे।"

सचमुच यहां बड़ा भय है। किन्तु मार्ग भी यही है, अतः शत्रुओं को मारकर आगे बढ़ना चाहिए। यदि असावधानता-

वश इन्हें न मारा तो फिर उपनिषद् के शब्दों में महती विनाष्टिः महान् विनाश सम्मुख उपस्थित है। अध्यात्मवादी इनको 'पर' (पराया) 'परिपन्थी'(शत्रु) बटमार, मार्ग रोकने वाला आदि नाम देते हैं।

* उठ ! यज्ञ कर *

उत्तिष्ठ ब्राह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ।

अ० १९ । ६३ । १

ब्रह्मणः+पते–हे ज्ञान के स्वामिन्
उत्तिष्ठ—उठ ।
यज्ञेन–यज्ञ के द्वारा ।
देवान्—देवों को ।
बोधय—जगा ।
आयुः प्राणं-आयु और प्राणको ।
प्रजां—सन्तान [और]
पशून्—पशुओं को ।
कीर्त्ति च—यश और
यजमानम्–यजमान को
वर्धय—बढ़ा ।

इस मन्त्र का भावार्थ समझने के लिये ब्रह्मणस्पति शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है । ब्रह्मणस्पति शब्द में 'ब्रह्मणः' और 'पति' ये दो शब्द हैं, 'ब्रह्मणः' पद ब्रह्मन् शब्द का षष्ठीविभक्ति का रूप है । ब्रह्मन् शब्द के अनेक अर्थ हैं । उनमें से चतुर्वेदवित ज्ञान, अन्न, यज्ञ और महान् ये मुख्य हैं, हमारा प्रयोजन इतने अर्थों से सिद्ध हो जाता है । चारों वेदों के जाननेवालों का पति, ज्ञान का पति, अन्न का पति, यज्ञ रक्षक तथा महान् (बड़ों) का पति ब्रह्मणस्पति होता है ।

मन्त्र में 'ब्रह्मणस्पति' को सम्बोधन करके कहा गया है, हे ब्रह्मणस्पते ! उतिष्ठ='उठ ।'

यहाँ एक संकेत की बात बता देते हैं । 'उत्तिष्ठ' का अर्थ

साधारणतया 'उठ' 'खड़ा हो' 'उन्नत हो' होता है, किन्तु वेद में प्रायः इसका अर्थ होता है, उठकर, सावधान होकर प्राप्त करने योग्य को प्राप्त कर।

तात्पर्य्य यह कि ब्रह्मणस्पतिअन्न धन के स्वामी, ज्ञानी, यज्ञ-रक्षक तथा मानी मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं उन्नत होकर सावधानता से अपने अन्न-धन-ज्ञान और मान को सफल करे। वह सफलता किस प्रकार हो सकती है इसके लिये वेद कहता है—

देवान् यज्ञेन बोधय=तू देवों को यज्ञ के द्वारा जगा।

अर्थात् तेरी सफलता तेरे यज्ञ से सम्भव है। तू अपने यज्ञ से देवों को जगा। देव=दिव्य भावों को, जो तेरे अन्दर प्रसुप्त हैं, जगा।

किसी को क्या ज्ञात कि तेरे भीतर दिव्यगुण, उत्तम भावनाएं विद्यमान हैं? यदि तेरे ये देव सोये रहें तो इनका होना न होना एक समान है। देव यदि सो जाएं, तो वे देव नहीं रहेंगे क्योंकि देवों के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का कहना है कि—

'न वै देवाः स्वपन्तिः (श० ३. २. २. २२.)

देव सोते नहीं हैं। वरन्

जागृति देवाः (श० २. १. ४. ७)* देव जागते हैं।

जागना क्या है? स्व-स्व-कार्य्य में लगे रहना जागना है। मनुष्य जब जाग रहा होता है, तब वह देखता है, सुनता है, बोलता है, खाता-पीता है नाना भले-बुरे कार्य करता है। इस वास्ते हे ब्रह्मणस्पते! तू अपने देवों को जगा। अरे ये क्या? तेरे देव क्यों सोये हैं? देव तो सोनेवाले को पसन्द नहीं करते, जैसा कि वेद में कहा है—

---

* देव शब्द के अनेक अर्थों के लिए 'वेदप्रवेश' प्रथम भाग पृष्ठ ५—८ देखिए।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ऋ० ८।२।१८
देव यज्ञ करनेवाले को चाहते हैं, देव सोनेवाले को पसन्द नहीं हैं।

अतः तू इन्हें जगा, परन्तु जगा यज्ञ के द्वारा, इससे तुझे चाहने लगेंगे। अभी हम कह चुके हैं, जागरण दशा में मनुष्य भले-बुरे सभी कार्य्य करता है। यदि तेरे देव जागकर बुरे कार्य्यों में लग गए तो अनर्थ हो जायगा, इससे तो इनका न जागना ही अच्छा है। किन्तु देवों का देवपन रखने के लिए इनका जागना आवश्यक है, अतः इन्हें यज्ञद्वारा जगा।

। यज्ञ क्या है ? इसको समझने के लिये आप अपने नित्यकर्म्म-हवन को देखिये। आप एक कुण्ड में समिधाएं (लकड़ियाँ) डाल कर उसमें आग लगाते हैं, और फिर मन्त्रों (उत्तम विचारों) के साथ घी और सुगन्धित सामग्री डालते हैं। अग्नि में घी सामग्री पड़कर छिन्न-भिन्न होकर वायुरूप घोड़े पर सवार होकर दूर-दूर पहुँच जाती है। थोड़ा-सा यहां सोचिए। आपने अपने घर में मोहनभोग या कोई अन्य मोदक आदि उत्तम खाने योग्य पदार्थ बनाया है। पड़ोसी से आपकी बनती नहीं। आप उसे नहीं देते। परन्तु क्या आपमें सामर्थ्य है कि अग्नि में घृत सामग्री डालने से उत्पन्न हुई सुगन्धि को उस विरोधी के घर जाने से रोक सकें ? कदापि नहीं, वह तो आपके शत्रु-मित्र सभी को मिलेगी। यदि आप रोकेंगे, कमरा बन्द करेंगे, वह बन्द होने से कमरे के वायु को विषैला कर देगी। इस नित्य किये जाने वाले भौतिक यज्ञ का वास्तविक स्वरूप जो वैदिक धर्म्म की जान है, ज्ञात होता है। अर्थात् यज्ञ उन सकल शुभ कर्म्मों का नाम है कि कर्ता के न चाहते हुए भी जिनके द्वारा शत्रु तक का भी भला हो।\

यज्ञ के इस स्वरूप को समझकर यज्ञ के द्वारा देवों को जगाने

का भाव सुगमता से समझा जा सकता है। आपके देव=दिव्य भाव, तभी जागृत समझे जा सकते हैं जब वे परोपकार, लोकोपकार, जनसेवा में लगे हों।

देवों के जागने का प्रमाण या फल क्या है, इसके लिये मन्त्र के उत्तरार्ध का मनन कीजिए—

आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय।

आयु, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति और यजमान को बढ़ा।

यज्ञ का फल आयु की वृद्धि है। मनुष्य उत्पन्न हुआ और प्रौढ़ता प्राप्त किये बिना मर गया, तो क्या लाभ ? न वह अपना कुछ कर सका, और न किसी और का बना सका। बड़ी लम्बी आयु पाएगा तो कुछ अपना-पराया बना सकेगा।

तनिक ध्यान दीजिए, आयु बढ़ाने के साधनों का नाम यज्ञ है। सारे के सारे समाज की, समूचे राष्ट्र की आयुवृद्धि का उपाय करना चाहिए।

आयु लम्बी हो किन्तु हाथ पैर न चलते हों, तो कुछ हो न सकेगा। ऐसी लम्बी आयु से क्या ? नचिकेता ने ऐसी अवस्था का हृदय में चित्र खींचकर कहा था—

अतिदीर्घे जीविते को रमेत ?

'बहुत लम्बा जीवन किसे पसन्द आ सकता है ?'

दुःखभरा लम्बा जीवन किसी को भी अच्छा नहीं लगता। लम्बे जीवन को सुखमय बनाने के साधनों के विचार से आयुवृद्धि के साथ वेद ने प्राणवृद्धि का भी आदेश किया। वेद में एक स्थान पर आता है कि प्राणनक्रिया ही जीवन है। जिसके प्राण बलवान् हैं, वही मनुष्य स्वस्थ है। दीर्घायु और स्वास्थ्य के अभिलाषी को प्राणशक्ति बढ़ाने का निरन्तर यत्न करना चाहिए। उसके लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम के

लिए किसी प्राणायामाभ्यासी से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के उपासना प्रकरण में प्राणायाम की विधि का वर्णन है, वहां देखना चाहिए।

शरीर स्वस्थ है, आयु भी लंबी है, परन्तु सन्तान नहीं तो ....। वेद कहता है—प्राणशक्तिसंपन्न दीर्घआयु प्राप्ति के साथ सन्तान भी बढ़ा ! सन्तान दो प्रकार की होती हैं। एक यौन और दूसरी मौख। पुत्रादि सन्तान यौन सन्तान होती है और शिष्य प्रशिष्य आदि मौख कहलाते हैं। दोनों प्रकार की सन्तान बढ़ानी चाहिए। सन्ततिर्निरोध यदि संयम मूलक न हो तो रोगकारक होता है। ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए वैदिक विधान से यदि गृहस्थधर्म का अनुष्ठान किया जाए तो अनियमित सन्तान हो ही नहीं सकती, उससे स्वाभाविक सन्तति-निरोध हो जाता है; साथ ही शरीर एवं आत्मा भी सबल एवं स्वस्थ बने रहते हैं। कृत्रिम साधनों से सन्तति-निरोध करना दम्पती के=पति-पत्नी के स्वास्थ्य पर कुठाराघात करना है। अतः नैसर्गिक वेदप्रतिपादित नियमों पर चलते हुए सन्तान को बढ़ाओ।

गृहस्थ की भांति विरक्तों को भी सन्तान बढ़ानी चाहिएं। वैदिककाल के आचार्य्य कहा करते थे—

१. आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

मुझे सब ओर से ब्रह्मचारी=वेदधारक शिष्य मिलें।

२. वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

मुझे विविध प्रकार के ब्रह्मचारी मिलें।

३. प्र मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

मुझे उत्कृष्ट उत्तम ब्रह्मचारी मिलें।

४. दमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

मेरे ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय हों, सदाचारी हों।

५. शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

मेरे ब्रह्मचारी शान्त हों।

सब देशों के अनेक प्रकार के ब्रह्मचारियों की कामना करके उनके जितेन्द्रिय और शान्त होने की कामना की गई है। जिस समाज के सभी सदस्य शान्त और जितेन्द्रिय हों, उसको कौन दबा सकता है?

आचार्य्य क्यों ऐसी कामना करता था? उसको ज्ञात था कि मेरे ज्ञानकोश की रक्षा सन्तान ही कर सकती है, अन्यथा मेरे शरीर के अन्त के साथ इस कोश की भी समाप्ति हो जाएगी। अतः वह शिष्य को संबोधन करके कहता था—

६. ब्रह्मणः कोशोसि मेधयापिहितः श्रुतं मे गोपाय*

हे शिष्य! धारणावती बुद्धि से सुरक्षित तू ब्रह्म का=ज्ञान का कोश है! मेरे श्रुत=ज्ञान की रक्षा कर।

सन्तानों की वृद्धि करने से पूर्व उनको जीवित रखने के साधनों का अर्जन करना अत्यन्त आवश्यक है। इस आशय को लेकर वेद ने पशुवृद्धि का भी उपदेश साथ कर दिया। जिस गृहस्थ के पास गौ और दूध देनेवाले पशु बहुतायत से होते हैं, उसके परिवार के सभी जन स्वस्थ और सुखी होते हैं। दूध से बढ़कर कोई भी भोजन उत्तम नहीं है। दूध के सेवन से शरीर-मन सभी उत्तम स्वास्थ्यवान् होते हैं। अन्न भी पशुओं से मिलता है कृषि पशुओं पर निर्भर है। वैदिक काल के आचार्य्य अपने शिष्यों के लिए सहस्रों गौएं रखा करते थे। बृहदारण्यकोपनिषत् के तीसरे अध्याय के आरम्भ में एक कथा आती है—

राजा जनक ने एक हजार गौओं के सींगों को सोने से मढ़वा

---

* १—६ सारे उद्धरण तैत्तिरीयोपनिषत् की शिक्षोपनिषत् के चतुर्थ अनुवादक के हैं।

कर अपनी सभा के पण्डितों से कहा—आप में जो सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी हो, वह इन गौओं को लेले। राजा की यह बात सुनकर सभा में सन्नाटा-सा छा गया। सब को मौन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य सामश्रवा से कहा-'एताः सोम्योदज सामश्रवाः ३' हे सोम्य सामश्रवा, इनको हाँक ले जा। सभास्थ पण्डित याज्ञवल्क्य की इस ढिठाई पर क्रोध करने लगे, और कहने लगे, हे याज्ञवल्क्य! कैसे तू हम सब से बड़ा ब्रह्मज्ञानी है? याज्ञवल्क्य ने जो उत्तर दिया, वह मनन करने योग्य है। उसने कहा—

'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्म्मो गोकामा एव वयं स्मः।

'हम सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी को नमस्कार करते हैं। हम तो गौओं के अभिलाषी हैं।'

सैकड़ों, हजारों शिष्य जिनके आश्रम में रहते हों, उन्हें तो गौएं चाहिएं ही।

सन्तान, पशु आदि का फल होना चाहिए कीर्त्ति-यश। अर्थात् मनुष्य ऐसी सन्तान उत्पन्न करे, जिनसे उसका यश बढ़े। पशु आदि का संग्रह इस प्रकार करे जिससे उसकी कीर्त्ति बढ़े।

ब्रह्मणस्पति का एक और कर्त्तव्य है कि यजमान की सदा वृद्धि करे। इसके दो भाव हैं। एक यह कि यजमान के आयु, प्राण सन्तान, धन-धान्य की वृद्धि करना ब्रह्मणस्पति का कर्त्तव्य है। दूसरा भाव यह है कि ब्रह्मणस्पति को चाहिये कि यजमानों=यज्ञ करनेवालों की संख्या सदा बढ़ाया करे। यज्ञ=निःस्वार्थ परोपकार करनेवालों की संख्या की वृद्धि के साथ संसार का हित करना साधारण मनुष्य का भी कर्त्तव्य है। ब्रह्मणस्पति की बात ही क्या है! ब्रह्मणस्पति के इस कर्त्तव्य के कारण ही पूर्वमन्त्र में आदेश है—बृहस्पतिः पुरएत्ता ते अस्तु। बृहस्पति तथा ब्रह्मणस्पति एक अर्थ के वाचक हैं।

आयु से लेकर यजमान तक की वृद्धि तभी हो सकती है जब यज्ञपति स्वयं सावधान हो और उसकी दिव्य भावनाएं जागरूक हों। अतः वेद का आदेश है—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।

---

* यज्ञ-महिमा *

यज्ञो बभूव स आ बभूव
स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव
सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥
अ० ७ । ५ । २ ॥

यज्ञः बभूव-यज्ञ समर्थ होता है ।
सः आ बभूव-वह सब ओर होता है ।
सः प्रजज्ञे-वह उत्तम रीति से उत्पन्न होता है ।
उ पुनः सः वावृधे-और फिर वह बढ़ता है ।

सः देवानाम्-वह देवों का ।
अधिपतिः-अधिपति ।
बभूव-होता है ।
सः अस्मासु-वह हम में ।
द्रविणम् आ दधातु-धन को धारण करे ।

गत मन्त्र की व्याख्या में यज्ञ की चर्चा थोड़ी-सी आई है । इस मन्त्र में यज्ञ की महिमा थोड़ी-सी बताई है । वैदिक धर्म्म का प्राण यज्ञ है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म । श० १।७।१।५

यज्ञ सब से श्रेष्ठ कर्म्म है । यज्ञ से श्रेष्ठ अन्य कोई कर्म्म नहीं है । यजुर्वेद के पहले मन्त्र में कहा गया है—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे, आप्यायध्वम्
'सर्वशासक, सत्यप्रेरक भगवान् तुम सबको श्रेष्ठतम कर्म्म के लिए अर्पित करें, तुम फलो फूलो।'

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य-जीवन की सफलता श्रेष्ठतम कर्मों के करने में है। वेद में कर्म करने का विधान अनेक स्थानों पर है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंꣳसमः—

सत्कर्म्म करता हुआ मनुष्य सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। वेद की दृष्टि में कर्म्म=सत्कर्म न करनेवाला दस्यु है—

अकर्म्मा दस्युः (ऋ० १०।२२।८) कर्म्म न करनेवाला दस्यु है।

कर्म्म, श्रेष्ठतम कर्म्म, यज्ञ ये पर्य्यायवाची हैं। सत्कर्मों का, श्रेष्ठतम कर्मों का फल भी उत्तम होता है। किया कर्म्म विफल नहीं जाता। इस अभिप्राय से कहा है—

यज्ञो बभूव यज्ञ सफल होता है=यज्ञ समर्थ होता है। यज्ञ सर्वत्र होता है। भगवान की सृष्टि यज्ञ ही है। अतः वेद ने क़हा—

'यज्ञ आबभूव'=यज्ञ सब ओर हो रहा है।

सूर्य्य अपने प्रकाश और ताप के द्वारा जीवनदान तथा रोग-विनाश-रूप यज्ञ कर रहा है। चन्द्र अपनी शीतल किरणों द्वारा वनस्पति-जगत् के जीवन का आधार बन रहा है। इसीप्रकार आग, हवा, पानी सब पदार्थ अपने-अपने ढंग से नैसर्गिक यज्ञ कर रहे हैं। मनुष्य के लिए भी आदेश तो यज्ञ करने का है। यह मानव तन इसे मिला ही यज्ञ करने के लिए है, जैसा कि वेद भगवान् ने कहा है—

"इयन्ते यज्ञिया तनूः" । तेरा यह तन यज्ञ करने योग्य है। यह संसार भी यज्ञ है, उत्तम रीति से उत्पन्न होता है। और फिर बढ़ता है। यज्ञ का काम बढ़ना ही बढ़ना है। वेदी में प्रज्वलित अग्नि पर जब घृत सामग्री डालते हैं, तब वह थोड़ी ही तो होती है किन्तु अग्नि के साथ मिलकर यज्ञरूप होने से वह सुगन्धि कितनी दूर तक फैल जाती है! कितने विशाल प्रदेश को सुवासित करती है। यही यज्ञ का बढ़ना है।

जब यज्ञ बढ़ता है तब—

स देवानामधिपतिर्बभूव=वह यज्ञ देवों का अधिपति हो जाता है।

यज्ञ भद्रभाव, भद्रकर्म रूपी देवों का स्वामी है, इसमें सन्देह किसे है? शतपथ ब्राह्मणों में यज्ञ को सब भूतों और देवों का आत्मा कहा गया है। देखिए—

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः, तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋध्यते। वि वा एष प्रजया पशुभिर्ऋध्यते, यस्य धर्म्मो विदीर्यते ॥

१४। ३। २। १॥

सचमुच यह यज्ञ सब भूतों और सब देवों की आत्मा है। यज्ञ की बढ़ती के साथ यजमान की बढ़ती होती है और यज्ञ की हानि के साथ यजमान के प्रजा-पशुओं की हानि होती है।

वेद में भी कहा है—

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूत। ऋ० ३। ३२। १२॥

हे आत्मन्! यज्ञ तेरी वृद्धि का, उन्नति का साधन है।

यजुर्वेद १८। ११ में आता है—

मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

मेरी मति (क्रियाशक्ति) तथा मेरी सुमति यज्ञ से सफल हों। अर्थात् यज्ञ से ज्ञान कर्म्म की सफलता हो सकती है।

इससे सिद्ध होता है कि शरीर, आत्मा, मन और समाज की उन्नति के साधनों का नाम यज्ञ है। अतः इसको श्रेष्ठतम कर्म्म कहना सर्वथा उपयुक्त है।

यज्ञ की इतनी उपयोगिता जानकर कामना की गई है—

सो अस्मासु द्रविणमादधातु । वह हम में धन धारण करे।

यज्ञानुष्ठान का यह स्वाभाविक फल है। इसी कारण से शिल्पविद्यादि को भी यज्ञ कहा जाता है।❀

यज्ञ के सम्बन्ध में इस थोड़ी-सी विवेचना से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैयक्तिक (शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक) सामाजिक एवं सांसारिक उन्नति के साधनों का नाम यज्ञ है। मानव-जीवन का कोई क्षेत्र यज्ञवेदी से बाहर नहीं जा सकता है। इस विशाल, उदात्त, उच्चतम स्वार्थशून्य भाव को लेकर हमारे पूर्वजों ने कहा था कि ऋग्वेद आदि चारों मन्त्रसंहितायें कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादन करती हैं। इसे न समझकर कई भ्रान्त वेदज्ञान-विहीनों ने अग्निहोत्रादि ही को वेद का विषय बतलाना आरम्भ कर दिया। वेद के यज्ञ को यदि संसार अपना सके और तदनुसार आचरण कर सके तो आज संसार पुनः सुखधाम तथा कल्याणस्थान बन जाये। सब को ऐसा यत्न करना चाहिये।

❀ यज्ञ की महिमा के लिये ब्रह्मोद्योपनिषत् पृष्ठ १०३—१०६ देखिए।

ज्ञानी ही यज्ञ के मुख्य धाम को जानते हैं

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना
दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना
यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥

अ० २०।६१।२

ऋतं शंसन्तः-ऋत की प्रशंसा करने वाले।
ऋजु दीध्यानाः—सरलता से विचारनेवाले।
दिवः पुत्रासः-प्रकाश के पुत्र।
असुरस्य वीराः-वरुण के वीर, भगवान् के भक्त।
अङ्गिरसः-अङ्गी = आत्मा के रस को प्राप्त महात्मजन
विप्रम् पदम्-मेधावि पदवी को।
दधानाः-धारण करनेवाले।
यज्ञस्य प्रथमं धाम-यज्ञ के मुख्यधाम को।
मनन्त-मनन करते हैं, विचारते हैं।

यज्ञ का मुख्य धाम क्या है ? ऋषि दयानन्द संस्कारविधि में लिखते हैं—

"मनुष्यों को योग्य है कि सब मंगल कार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें।" (सामान्य प्रकरण)

इससे सिद्ध होता है कि यज्ञ का मुख्यधाम प्रभु परमात्मा है। प्रभु को कौन जान सकते हैं, इसका इस मन्त्र में निरूपण है। प्रभु के प्यारों का सबसे प्रथम गुण है—

ऋतं शंसन्तः='ऋत की प्रशंसा करनेवाले।'

प्रभुभक्त को सबसे पूर्व ऋतज्ञानी और ऋतगामी होना चाहिए।

ऋत का एक अर्थ है सृष्टि-नियम। जब मनुष्य सृष्टि-नियम का मनन और चिन्तन करेगा, तो स्वयं भी अपना आचरण सृष्टि नियम के अनुकूल बनाएगा। सृष्टि नियम के अध्ययन से उसे स्रष्टा और उसकी सर्वव्यापकता का भान होगा, तब वह पाप से हट जायगा। वेद में कहा भी है—

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। ऋ० ४।२३।८

'ऋत का चिन्तन पापों का नाश करता है।'

पाप करने के लिए मनुष्य ऐसे स्थान की खोज करता है। जहां उसे कोई न देखे। जब भक्त भगवान् की सर्वज्ञता, सर्वदृष्टिता और सर्वव्यापकता का भान करेगा, तब सर्वत्र भगवान् को देखेगा, अतः उसे पाप करने के लिए एकान्त स्थान न मिल सकेगा, और इस प्रकार वह पाप से छूट जाएगा।

ऋतज्ञानी एवं ऋतगामी होने के साथ साधक को 'ऋजु दीध्यान' होना चाहिए। कुटिलता पाप होती है। कुटिलता, टेढ़ापन से गांठें पड़ती हैं। अतः कुटिलता का त्याग करके सरलता का धारण और चिन्तन करना चाहिए। झूठ में पेच होते हैं, सत्य में सिधाई होती है, अतः यज्ञ के प्रधान धाम का मनन करने के अभिलाषी को ऋजु=सरल विचारोंवाला होना चाहिए। अर्थात् प्रभुप्यारों का दूसरा गुण है कुटिलतारहित सरल विचार तथा सरल आचार-व्यवहार।

अज्ञानी और मूढ़ जन भी सरल होते हैं। आजकल तो सरल मनुष्य का अर्थ है मूढ़ मनुष्य। जो मूढ़ होगा, वह ऋत का मनन कैसे करेगा ? सरलता के साथ ज्ञान चाहिए। अतः वेद ने प्रभुभक्तों का एक विशेषण दिया—

दिवस्पुत्रासः=प्रकाश के पुत्र।

प्रभुभक्त प्रकाश के पुत्र हों। अर्थात् प्रभुभक्तों में तीसरी विशेषता यह होती है कि वे उल्लू के स्वभाव वाले न हों। जिस प्रकार पुत्र को पिता की संपत्ति पर मान होता है, इसी प्रकार भक्तों को प्रकाश पर=ज्ञान पर=भगवान् के इस विशिष्ट गुण पर मान होना चाहिए। और वे अपने आप को—

असुरस्य वीराः=प्राणप्रदाता अन्तर्यामी वरुण भगवान् के वीर समझें।

अर्थात् प्रभुप्रेमियों का चौथा गुण यह होता है कि वे अपने आप को भगवान् का वीर—सैनिक—समझते हैं।

अर्थात् वे लोग अपने स्वामी के आदेश के प्रसारक होने चाहिएं, वे प्रभु की सन्तान के रक्षक होने चाहिएं। जब मनुष्य अपने-आप को ऋतानुसारी, सरलाचारी, ज्ञानधारी, प्रभु-आदेश-कारी बना ले, उसके अंगिराः होने में तब सन्देह ही क्या हो सकता है ? अर्थात् इन गुणों के होने पर यह पांचवीं विशेषता उनमें अपने-आप ही आ जाती है।

अङ्गिराः का अर्थ—अङ्गी के रस वाला। जीवात्मा का नाम अङ्गी है। आत्मा जब वहिर्मुखवृत्ति वाला होता है, तब वह आंख, नाक, कान, जीभ आदि इन्द्रियों द्वारा रस लेना चाहता है, उसे भोजन में स्वाद मिलता है, सुगन्धित सुरभित पदार्थों में उसे सुख की प्रतीति होती है, उसे शब्द मीठे और प्यारे लगते हैं, उसे रूप में आकर्षण का भान होता है, नर्म नर्म गद्दे उसे

सुख देते हैं, इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थ उसकी इन्द्रियों के द्वारा उसे सुख संविधा पहुँचा रहे होते हैं। उस समय वह बाहर के विषयों के साथ संबद्ध होने से बाहर ही के विषय में रत हो रहा होता है।

आपाततः यही प्रतीत होता है कि सारे विषय सुख के साधन हैं किन्तु सूक्ष्मता से जब विचारते हैं तब यह प्रतीत होता है कि यह बात ठीक नहीं। क्योंकि जो एक पदार्थ देवदत्त को सुख देता है वही यज्ञदत्त के लिए दुःख का कारण बन रहा है। अब यदि वह सुख का कारण है तो उसे दुःख का हेतु भी मानना पड़ेगा। एक ही समय में किसी भी वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म्म रह नहीं सकते, जैसे वही जल एक ही समय में ठण्डा और गरम नहीं हो सकता। काल-भेद से यदि किसी पदार्थ में विरुद्धधर्म्मों की सत्ता मानी जाए, तो निमित्त के कारण ऐसा मानना होगा। जैसे जल साधारणतया शीतल होता है किन्तु अग्नि संयोग-रूप निमित्त को प्राप्तकर वह गरम हो जाता है। इसी प्रकार पदार्थों में सुख या दुःख में से कोई एक धर्म्म अवश्य नैमित्तिक है, किसी दूसरे के सम्बन्ध से है। इस बात को दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। मिश्री सब को मीठी लगती है, वही दूसरे समय में बुरी भी लगने लगती है। इससे भी प्रतीत होता है कि बाह्य पदार्थों में जो सुख का भान होता है, वह उनका स्वाभाविक धर्म्म नहीं, नैमित्तिक है। इस बात को यों लीजिए। एक मनुष्य को आम बहुत प्रिय लगते हैं, वह खूब खाता है, उससे उसे रक्तातिसार लग जाता है, अब उसे आमों से घृणा हो जाती है, और अब वह किसी अन्य वस्तु में स्वाद खोजता है। इस से भी प्रतीत होता है कि आम नितान्त एकान्त सुख का कारण नहीं है। तनिक आम की अवस्थाओं का विचार कीजिए। कच्ची दशा में आम खट्टा होता है, पककर वह प्रायः मीठा होता है, पकने

के बाद गलने-सड़ने लगता है, तब उसे खाने को चित्त ही नहीं चाहता। आम का खट्टापन, मीठापन, और गलितपन स्वाभाविक नहीं, नैमित्तिक है। दृष्टान्त से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राकृतिक पदार्थों में जो सुख की प्रतीति होती है, वह उन पदार्थों का स्वाभाविक धर्म्म नहीं, वरन् नैमित्तिक है। इस तत्त्व को जानकर आत्मा अन्दर की ओर झुकता है, उसे रस आने लगता है। यह रस आत्मा का अपना नहीं। यदि यह रस आत्मा का निजी होता, तो आत्मा उसकी खोज में बाहर के पदार्थों से टक्कर क्यों मारता? यह रस आत्मा के अन्दर व्यापक अन्तरात्मा परमात्मा का है। परमात्मा रसमय है, नहीं नहीं, वरन् वह रस है। उपनिषद् में कहा भी है—

रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

तै० उ० ब्र० व०। ११

परमात्मा सचमुच रस है, उस रस=आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त करके आत्मा आनन्दी हो जाता है। इस रस को प्राप्त करके आत्मा अङ्गिराः कहाता है।

चूंकि उस समय वह प्राप्तव्य परमात्मरस को धारण कर रहा होता है, इस वास्ते वेद ने उस अवस्था के सम्बन्ध में कहा है—

विप्रं पदमङ्गिरसो दधानाः।

'अङ्गिरा की मेधावी-पदवी को धारण करने वाले।'

सचमुच बुद्धिमान्, मेधावी, धारणावती बुद्धिवाला वही है, जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जो अङ्गिरा नहीं बना, रसों के रस परमात्मा का जिसने अंग-अंग में रस नहीं लिया, वह मेधावी नहीं। मेधा=धारणावती बुद्धि की सत्ता

उसमें कैसे मानी जाये, जिसकी बुद्धि ने उस परम रस को धारण नहीं किया।

जो अङ्गिरा की मेधावी पदवी को धार लेता है वह सचमुच यज्ञ=परमपूज्य के धाम का मनन-निरन्तर चिन्तन करता रहता है।

———

* ज्ञानी भगवद्यज्ञ करते हैं *

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तो—
त गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत
प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥

अ० ७।५।५॥

मुग्धाः—मोह लेने वाले ।
देवाः—ज्ञानी ।
उत—या तो
शुना अयजन्त—परमात्मा का यजन करते हैं।
उत—या तो।
गोः—ज्ञान के।
अङ्गैः—विविध अङ्गों द्वारा।
पुरुधा—अनेक प्रकार से।
अयजन्त—यजन करते हैं।

यः इमं यज्ञम्—जो इस यज्ञ को।
मनसा—मन से।
चिकेत—जानता है।
नः प्रवोच—तू हमें [उसके सम्बन्ध में] अच्छी तरह बता।
तम् इह+इह ब्रवः—तू उसके सम्बन्ध में अभी-अभी बता।

ऋषियों की तीन कोटियां होती हैं—

१. ऋषि २. साध्य और ३. देव। जो किसी पदार्थ का साक्षात्कार कर लेवे, उसके ज्ञातव्य और ज्ञेय तत्त्व को जान ले, उसे ऋषि कहते हैं। जब वही महात्मा उस तत्त्व का अपने तथा

लोक के कल्याण के लिए प्रयोग करता है, तब वेदों की परिभाषा में वह साध्य कहलाता है। जब उसको अपनी कोई चिन्ता नहीं रहती, कोई कामना नहीं रहती, केवल लोकोपकार की प्रचण्ड भावना रहती है, तब वह देव हो जाता है। ऐसे देव-मनुष्य सबको मोह लेते हैं। उनकी निष्काम कर्म्मभावना, सब का भला करने की उनकी भव्य भावना लोगों को उनकी ओर खींचती है।

जब प्राप्तव्य प्राप्त हो जाए और कुछ प्राप्त करना शेष न रहे, तब मनुष्य के अन्दर निष्काम कर्म की प्रवृत्ति होती है। क्या मनुष्य उस अवस्था में कर्म त्याग देता है? वेद उत्तर देता है—

मुग्धा देवा·········पुरुधायजन्त।'

कर्म्मत्याग असंभव है। गीता में कहा भी है—

'न हि क्षणमपि जातु कश्चित्तिष्ठंत्यकर्मकृत्।'

कोई मनुष्य एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। खाना, पीना, मलमूत्र विसर्ग करना, देखना, नेत्र झपकना आदि कर्म्म तो छूट ही नहीं सकते। जीवन्मुक्त भी ये सारे कर्म्म करता है। भोगपूर्त्ति के लिए उसे कर्म करने ही पड़ते हैं। वह महात्मा अनुभव करता है कि मैं तो प्राप्तव्य प्राप्त कर चुका। संसार के ये प्राणी इधर-उधर भटक रहे हैं, इनका किसी प्रकार उद्धार होना चाहिए। जिस उपाय का आलंबन करके मैं अपना कल्याण कर सका हूँ, वह उपाय इन अबोध जीवों को बतलाऊं ताकि ये भी अपना कल्याण कर सकें। उस अवस्था में वह महात्मा अपनी शारीरिक परिस्थिति के अनुसार घूम-घूम कर या किसी स्थानविशेष में बैठकर वाणी द्वारा या लेख द्वारा लोगों को उपदेश देने लगता है। अतः उसका यह कर्म्म अपने लिये नहीं, जनसाधारण के लिए है, इसमें 'इदं न मम'। [यह

मेरा नहीं है] की पवित्र भावना लगी होती है, अतः उसका यह कर्म्म यज्ञ बन जाता है। वेद के शब्दों में यह—'गोरङ्गैः पुरुधायजन्त' है। लोगों को उस परतत्त्व का उपदेश नानाविध उपायों से करता है। लोगों को समझाने के लिए नाना युक्तियों एवं अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग करता है। ऋषियों के बनाए उपनिषत्, मुनियों के दर्शन, शास्ताओं के अनुशिष्ट शास्त्र इस बात का उज्ज्वल प्रमाण हैं।

ऋषियों की बात जाने दीजिए, परमेश्वर तो आप्तकाम है। उसे तो कुछ भी प्राप्त करना नहीं, परन्तु वह भी निरन्तर कर्म्म करता है। सृष्टि रचना, सृष्टिपालना आदि कर्म्म वह निरन्तर करता रहता है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के हितार्थ वेद का उपदेश करता है। समय-समय पर जब मनुष्य किसी पाप कर्म्म में प्रवृत्त होने लगता है तब उसकी आत्मा में विराजमान भगवान् उसे रोकते हैं। इस प्रकार परमात्मा निरन्तर जीवहितकारी कर्म करता रहता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक स्थान पर लिखा है—

'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्........।'

प्रजापति ने अपनी वपा निकाली और अग्नि में डाल दी।

मूर्ख लोग इस अतिगम्भीर बात को न समझ कर परमात्मा का अनुकरण करने के लिए पशुओं की चरबी यज्ञवेदी में डालने लगे। यह भूल उनसे 'वपा' शब्द का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण हुई। 'वपा' शब्द 'वप्' धातु से बनता है, 'वप' का एक अर्थ 'बीज बोना' है। 'बाप'=पिता शब्द इसी धातु से बनता है। दूसरा अर्थ 'काटना' है। इससे वपा का अर्थ हुआ, जो बोई जाए या काटी जाए। अब विचार से देखिए, बोना और काटना प्रकृति में हो सकता है। इस दृष्टि से ब्राह्मणवचन का अर्थ हुआ—"भगवान ने अपनी प्रकृति को गति दी और उसे

जीवों के अर्पण कर दिया।"

इसी प्रकार परमात्मा का अनुकरण करने के अभिलाषियों को चाहिये कि वह अपनी प्राकृतिक संपत्ति यथासंभव तथा यथा-शक्ति जीवों के अर्पण कर दें। यह कार्य्य है बहुत कठिन, किन्तु है अनिवार्य्य, इसके किये बिना और कोई उपाय नहीं।

जिस प्रकार जीवों के कल्याण के लिये नानाविध कर्म्म करता हुआ भी परमात्मा कर्म्मबन्धन में नहीं पड़ता, इसी प्रकार प्राणियों के उद्धार के लिये निष्काम भाव से नानाविध कर्म्म करनेवाले महात्मा को भी कर्म्म नहीं बांधते। वेद में कहा भी है—

न कर्म्म लिप्यते नरे ॥ य० ४० । २ ॥=

निष्काम कर्म्म करनेवाले मनुष्य में कर्म्म लिप्त नहीं होता। अर्थात् उसके बन्धन का कारण नहीं बनता। अतः वे महात्मा निरन्तर सत् कर्म्म में लगे रहते हैं।

अतः इन महात्माओं ने निष्काम कर्म करने की युक्ति और शक्ति सर्वज्ञान-विधान, सर्वशक्तिमान् भगवान् से प्राप्त की है, अतः वे भगवान् का संग सदा बनाए रखते हैं। इसी तत्व को वेद ने कहा—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त।

परमात्मा से निरन्तर संबन्ध बनाए रखने के दो साधन हैं— १. योगाभ्यास एवं २. वेदशास्त्राभ्यास। इन दोनों उपायों को सन्ध्या और स्वाध्याय भी कहते हैं। दोनों का साझा एक नाम 'ब्रह्मयज्ञ' भी है। जो सज्जन परमात्मा से अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहें, उन्हें प्रतिदिन, नागा किये बिना, ब्रह्मयज्ञ का अनु-ष्ठान करना चाहिये। ब्रह्मयज्ञ कभी किया, कभी न किया, कभी बला-सी काट दी, इस प्रकार अव्यवस्थित एवं अनियमित रीति

से करने पर यह अभिष्ट लाभ नहीं देता, वरन् योगिराज पतंजलि के शब्दों में—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः—

वह तो दीर्घकाल तक लगातार श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनुष्ठान करने से दृढ़ होता है।

लोकोपकारार्थ शास्त्ररचना ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत है।

ब्रह्मयज्ञ के इस सूक्ष्म रहस्य को बहुत थोड़े सज्जन समझते हैं। जानने वाले तो और भी थोड़े हैं। हमें तो उसका पता बताओ—

य इमं यज्ञम् मनसा चिकेत—

जो इस यज्ञ को मन से = विचारपूर्वक जानता है।

अर्थात् जिसने इस यज्ञ की सारी प्रक्रिया को समझ लिया है वही दूसरों को समझा सकता है। अतः ऐसे महात्मा की खोज करनी चाहिये और उससे ब्रह्मयज्ञ की विधि सीखनी चाहिये।

देवयज्ञ–हवन आदि करने से वायु, वृष्टि, जलादि पदार्थों की शुद्धि होती है, किन्तु ब्रह्मयज्ञ से आत्मा में पवित्रता आती है। शरीर अनित्य है, बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था रूप परिवर्तन इस अनित्यता के प्रमाण हैं। आत्मा नित्य है।

देवयज्ञ करने के लिये भौतिक अग्नि में घृत, सामग्री, समिधा आदि भौतिक द्रव्य डालने होते हैं, ये सब अनित्य हैं। देवयज्ञ को द्रव्ययज्ञ भी कहते हैं। ब्रह्मयज्ञ में भौतिक घी, सामग्री का कोई प्रयोजन नहीं, वहाँ तो परमात्मारूपी अग्नि में आत्मा की हवि देनी होती है, अर्थात् आत्मसमर्पण करना होता है। आत्म-विस्मृति के विना आत्मसमर्पण करना असम्भव है। अतः द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ब्रह्मयज्ञ कठिन और उत्कृष्ट है। क्योंकि द्रव्ययज्ञ से वायु आदि की शुद्धि होती है और ब्रह्मयज्ञ से आत्मा पवित्र

होकर ब्रह्म सम्बन्ध प्राप्त करता है। वेद ने इसी कारण ब्रह्मयज्ञ को द्रव्ययज्ञ देवयज्ञ की अपेक्षा उत्कृष्ट बताया है जैसा कि अ० ७।५।४ में कहा है—

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञम् देवा अतन्वत।

अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥

विद्वान् लोग जो पुरुषरूप हवि से यज्ञ करते हैं, यह यज्ञ उसकी अपेक्षा अधिक ओजवाला=बलवान् है, जो वे हव्य=हवन सामग्री से विविध प्रकार से करते हैं।

अपना आपा देने की अपेक्षा घी, सामग्री देना सहल और सरल है। अपना आपा देने में बड़ा बल चाहिये। इसी कारण हव्ययज्ञ–द्रव्ययज्ञ–देवयज्ञ की अपेक्षा पुरुषयज्ञ-ब्रह्मयज्ञ ओजीय= अधिक बलशाली है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में संकेत किया है कि द्रव्ययज्ञ का एक प्रकार नहीं है। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय, आप्तोर्याम, ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, दर्शपौर्णमास, वैश्वदेव, शुनासीरीय, साकमेधः वरुणप्रघास आदि नाना यज्ञ हैं। वेद में कहा है—

पुरुकामो हि वर्त्यः—मनुष्य में नाना कामनायें हैं।

उन नाना कामनाओं की सिद्धि के लिये नाना प्रकार के यज्ञ किये जाते हैं, उनमें विधिभेद का होना स्वाभाविक और अनिवार्य्य है। किन्तु ब्रह्मयज्ञ की विधि एक है और एक।

किसी को यह भ्रम न हो जाये कि इससे देवयज्ञ अकर्त्तव्य हो जाता है। नहीं, नहीं कदापि नहीं। जिस प्रकार जीवन्मुक्त को भी शरीर-यात्रा-निर्वाह के लिये खाना-पीना होता है, इसी प्रकार शरीर-जीवन के लिये अत्यावश्यक वायु जल आदि की शुद्धि के लिये द्रव्ययज्ञ भी आवश्यक है। रोगी शरीरवाला ब्रह्मयज्ञ नहीं कर सकता, योगदर्शन में रोग को ईश्वरप्रणिधान के मार्ग में सब

से पहला विघ्न माना है। अतः शरीर और शरीर के साधनों को शुद्ध रखना भी कर्त्तव्य है, अकर्त्तव्य या त्याज्य नहीं। शरीर और शारीरिक जीवन के उपकरणों—वायु जल आदिक को पवित्र रखने का नाम देवयज्ञ है।

शरीर आत्मा के लिये है, आत्मा के सुख-दुःख भोगने का अधिष्ठान है। इसमें रह कर ही आत्मा इन्द्रियों द्वारा प्रिय-अप्रिय पदार्थों के संयोग-वियोग और वियोग-संयोग के कारण इष्ट-अनिष्ट प्राप्त करता रहता है। आत्मा के यह भी उपकरण हैं। उपकरणों की सत्ता दूसरे के लिये होती है। इस रीति से शरीर आत्मा के लिये है। अतः आत्मा उससे सुतरां उत्कृष्ट है, और इसीलिये आत्मा का कल्याणकारी ब्रह्मयज्ञ भी शरीर हितकारी देवयज्ञ से ऊँचा है। और निष्काम विद्वान् सदा उसी का अनुष्ठान करते हैं। साथ ही देवयज्ञ का प्रत्याख्यान-खण्डन भी नहीं करते हैं। क्योंकि आत्मा के घर और कारणों के विकृत, खण्डित होने से आत्मा के उद्देश्य की सिद्धि में बाधा पड़ने की नितरां संभावना है। दूसरे शब्दों में आत्मकल्याण के लिए देवयज्ञ की भी एक सीमा तक अवश्य अपेक्षा होती है। पितृयज्ञ की कर्त्तव्यता का तीनों ऋणों के चुकाने की दृष्टि से आत्मा से सम्बद्ध है। (दीर्घ पश्य) इस वैदिक आदेश के अनुसार कीट पतंग, पशु-पक्षी, पांच रोगियों को भोजन देना अन्तःकरण शुद्धि के द्वारा आत्म-कल्याण कारक है, यह बलिवैश्व देव है। जो लोक-परलोक हितकारी श्रोत्रिय अतिथि अचानक पधारकर घर को पवित्र करे, उसकी सेवा से आत्मज्ञान अनायास मिलता है। इस दृष्टि से विचारें तो पांच यज्ञ साक्षात् आत्म कल्याण कारक हैं और अतः-एव इनको महायज्ञ कहते हैं।

❋ त्याग से मुक्ति ❋

यद् देवा देवान् हविषायजन्ता-
मर्त्यान्मनसा मर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्योमन्
पश्येम तदुदितौ सूर्य्यस्य ॥

अ० ७।५।३

देवाः–देव, ज्ञानी जन।
मर्त्येन मनसा हविषा-मरण-धर्मा मनरूपी हवि से।
अमर्त्यान्-अविनाशी।
देवान्–देवों का।
यत् अयजन्त-जो यज्ञ करते हैं।

तत्र परमे व्योमन्–उस परम व्योम में।
मदेम–हम आनन्दित होवें।
सूर्यस्य उदितौ-सूर्य्य के उदय में।
तत् पश्येम–उसको हम देखें।

पीछे हम यज्ञ की थोड़ी-सी झांकी दिखा आए हैं। उसके सम्बन्ध में थोड़ी-सी बात यहां और समझाते हैं ताकि मन्त्र का भावार्थ सरलता से बुद्धिगत हो जाए।

'यज्ञ' शब्द 'यज' धातु से बनता है। यज धातु के अर्थ, पाणिनि महर्षि के बनाए धातु पाठ में देव-पूजा, संगति करण और दान–ये तीन लिखे हैं।

देवपूजा का अर्थ है, देवों की पूजा सत्कार। अन्न, वस्त्र,

स्थान, आसन, नमस्कार, यथायोग्य उपयोग आदि विविध प्रकार की सेवा-शुश्रूषा से पूजा हो सकती है।

संगतिकरण का भाव है—संगति करना, मिलना-मिलाना, पदार्थों को एक गति, एक अवस्था, एक रूप करना।

दान का अर्थ है—दे डालना, अपना अधिकार छोड़कर दूसरे का अधिकार करा देना।

अब इन तीनों अर्थों पर ध्यान दीजिये, तीनों का मूल भाव एक है त्याग, छोड़ना। जब देवपूजा करनी होती है, विद्वान् महात्मा का अन्न-जल-वस्त्र आदि से सत्कार करना होता है, उस विद्वान् देव के निमित्त अन्न वस्त्रादि पर से अपना अधिकार हटाकर उसका अधिकार करा देना होता है। जब संगतिकरण होता है, दो या अधिक द्रव्य मिलते हैं, तो कुछ न कुछ रूपान्तर अवश्य होता है। ओषजन तथा आर्द्रजन के संगतिकरण से जल-स्थूलजल-आविर्भूत होता है, दोनों ने अपने बाह्य रूपों का त्याग किया है। इसी प्रकार एक से अधिक व्यक्ति मिलकर समाज का संगठन करते हैं, तब उन्हें भी कुछ न कुछ त्यागना पड़ता है, और कुछ न हो, तो देना ही पड़ता है। समाजशास्त्र-विशारदों ने इसी तत्त्व को सम्मुख रखकर सिद्धान्त बनाया—'प्रत्येक को सर्वहितकारी कार्यों में परतन्त्र और स्वहितकारी कार्य्यों में स्वतन्त्र रहना चाहिए।' दान तो है ही स्पष्ट अपना अधिकार छोड़ना।

इसतरह यज्ञ शब्द के धात्वर्थ पर विचार करने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यज्ञ का मूल अर्थ, प्रधान भाव त्याग है।
छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—

पुरुषोवावयज्ञः ३। १६। १ मानव-जीवन यज्ञ है।]

अर्थात् मनुष्य जीवन की सफलता, पुरुष का पुरुषत्व यज्ञ में, त्याग में है। इसी कारण वैदिक अग्निहोत्र की प्रत्येक आहुति

के पश्चात् इदन्न मम कहना पड़ता है। यह त्याग की भावना का अभ्यास है।

मुक्ति का स्वरूप बताते हुए वेद ने बताया—

यत्रानुकामं चरणम् ॥ ऋ० । ९ । ११३ । ९

जहाँ स्वच्छन्दता पूर्वक अपनी इच्छानुसार विचरण हो।

कोई व्यक्ति जब अपने आपको परतन्त्र देखता है, दूसरे के शासन में देखता है। तब व्याकुल होकर उससे छूटने का उपाय करता है। उस अवस्था में उसे अपना साधारण कार्यक्रम छोड़ना पड़ता है। यदि पूर्ववत् ही चलता रहे तो उसके छुटकारे की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इस भांति जब कोई देश या जाति परतन्त्रतापाश में फँस जाती है, तब उससे छुटकारा पाने के लिए उस देश के लोग प्राणत्याग करने तक तैयार हो जाते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं, एक यह है कि परतन्त्रता दुःख है तभी उससे छूटने की इच्छा होती। धर्म्मशास्त्रकार मनु जी ने कहा है—

सर्वं परवशं दुःखम्। सभी प्रकार की पराधीनता दुःख है। दूसरी बात यह है कि त्याग के विना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, छुटकारा नहीं मिल सकता।

अब उस आत्मा की दशा का विचार करो, जो कर्मपाश में बंधा, जन्ममरण के चक्कर में पड़ा धक्के खा रहा है। वह स्वच्छन्द नहीं है, इस वर्तमान दशा में उसको 'अनुकाम चरण' प्राप्त नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिये कुछ त्याग करना होगा। इसके लिए स्व और पर) अपने और पराये का विवेक करना होगा, स्वजातीय और परजातीय की पहचान करनी होगी। इस स्व-पर-विवेक को शास्त्र में स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय का फल योगशास्त्र में लिखा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः । २।४४

स्वाध्याय का फल अभीष्ट का मेल है।

इस स्व-पर विवेक से हमें ज्ञात हुआ कि अहं-मम की वासना सब से बड़ा फन्दा है। जिसमें हम बंधे हैं। इस ज्ञान के होते ही साधक अहंता-ममता त्याग का अभ्यास करता है। इसका नाम अपरिग्रह है। और अपरिग्रह का फल है—

अपरिग्रहस्थैर्य्ये जन्मकथन्तासंबोधः। यो० २। ३८

अपरिग्रह=ममता के अभाव=अभिमानाभाव की दृढ़ता से जन्म के हेतु का ज्ञान होता है।

इससे ज्ञात होता है कि यह मन हमारे बन्धन का; जन्ममरण के चक्कर का प्रधान कारण है। मन का विलय होने से आत्मा छूट सकता है अतः मन का त्याग, मन का यज्ञ करना चाहिए, तब मुक्ति मिलेगी। इसी तत्व को लेकर वेद ने कहा—

यद् देवा...मनसा मर्त्येन।

ज्ञानी लोग इस मारक मन को मारने का यत्न करते हैं। उनके त्याग का आरम्भ मन के त्याग से होता है। वे इस यज्ञ में मन को हवि बनाते हैं और फिर यम के शब्दों में कह उठते हैं—

'अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् (कठो०)

अनित्य द्रव्यों के द्वारा मैंने नित्य को प्राप्त कर लिया है। कितना उत्तम व्यापार है। अनित्य, विनाशी, क्षणभंगुर पदार्थ देकर नित्य अविनाशी और शाश्वत पदार्थ मिलता है। इन विनाशी पदार्थों को तो वैसे भी चले जाना था, किन्तु अब कितनी अच्छी बात हो गई कि वे अविनाशी पदार्थ यों ही नहीं चले गए। हमने सोच-विचारकर उनका समर्पण किया और हमें अविनाशी पदार्थ मिल गया, तभी तो हम आनन्द में विभोर हो रहे हैं और कह रहे हैं—

मदेम तत्र परमे व्योमन्

उस परम व्यापक जीवनाधार भगवान में आनन्द मनाएं।
और हम उसे लुक-छिपकर नहीं देखें वरन्

पश्येम तदुदितौ सूर्य्यस्य।

उसे सूर्य्य के उदय में, प्रचण्ड प्रकाश में देखें।

अर्थात् हम सदा उसके दर्शन करते रहें। भगवद्दर्शन, ज्ञानालोक में प्रभु की संगति ही भक्ति है। उसका मेल होने से सब बन्धन कट जाते हैं। जैसा कि उपनिषद् में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

मुण्डको० २।२।८

उस सर्वोत्कृष्ट भगवान् के दर्शन होने पर हृदय की गांठ खुल जाती है, सब संशय भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, कर्म्म शिथिल पड़ जाते हैं।

यही मुक्ति की दशा है और यह यज्ञ=त्याग से प्राप्त होती है।

———

❀ जो जागत है सो पावत है ❀

यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

ऋ० ५ । ४४ । १४ ॥

यः जागार=जो जागता है ।
तम् ऋचः कामयन्ते=उसे ऋचाएं चाहती हैं ।
यो जागार=जो जागता है ।
तम् उ सामानि यन्ति=उसे ही साम प्राप्त होते हैं ।
यो जागार=जो जागता है
तम् अयं सोमः आह=उसे यह सोम प्रभु कहता है ।
अहं तव सख्ये=मैं तेरे सख्य में ।
न्योकाः अस्मि=निरन्तर घर वाला हूँ ।

'जागने' का अर्थ है सावधान होना । जो मनुष्य सावधान रहता है, वही संसार में उन्नति कर पाता है । वेद कहता है—

यो जागार तमृचः कामयन्ते=जो जागता है, उसे ऋचाएं चाहती हैं ।

'ऋचा' का मूल अर्थ 'स्तुति' है । संसार में जागनेवाले की सभी प्रशंसा करते हैं, सोनेवाले की प्रायः निन्दा करते हैं । 'ऋचा' से यदि संकेत 'ऋग्वेद' समझें, तब भी ठीक है । ऋग्वेद में तृण से लेकर ब्रह्मपर्य्यन्त सभी पदार्थों का ज्ञान बीज रूप से

निरूपित है, जागनेवाला सभी ज्ञानों का अधिकारी हो जाता है।

बात बहुत सीधी है। जागनेवाला अपने चारों ओर सचेत मन से देखता है। जो-जो पदार्थ उसके सामने आता है, उस-उस पदार्थ का रहस्य वह पूरी तरह जानना चाहता है और उसके लिए यत्न करता है। जागनेवाला जगत और उसके पदार्थों का प्रयोजन खोजने लगता है। तर्क से, अनुसन्धान से, अन्वेषण से, शास्त्र से उसे निश्चय होता है कि यह समस्त संसार आत्मा के लिए है। वह जगत की रचना देखता है कि जड़=चेतना रहित पदार्थ दूसरों के लिए हैं, उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं। उसे यह भी अनुभव होता है कि जिनमें जितना कम ज्ञान है उतना ही वह दूसरे अधिक ज्ञानवाले के हाथ की कठपुतली बन रहा है। इस दृश्य को देखकर वह अज्ञान निवारण तथा ज्ञानोपार्जन में घोर परिश्रम करता है और नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञानदायक शास्त्रों का अभ्यास करके वह महाज्ञानी बन जाता है। यह सब जागने का, आँखें खुली रखने का सुपरिणाम है, तभी वेद ने कहा—

यो जागार तमृचः कामयन्ते।

संसार में अनेक ज्ञानी ऐसे होते हैं, जो पढ़-लिख कर भी अशान्त रहते हैं, उनके चित्त की चंचलता, उनके मन का उद्वेग कम नहीं होता। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में नारद की दशा का वर्णन है। नारद वेदादि अनेक शास्त्र पढ़कर भी अशान्त है। सनत्कुमार मुनि की शरण में आकर वह उनसे उपदेश के लिये प्रार्थना करता है। सनत्कुमार जी कहते हैं जब तक यह ज्ञात न हो जाए कि आप क्या जानते हैं, तब तक आपको क्या उपदेश किया जाए? पण्डितवर्य्य कहते हैं—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं

चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥

महाराज ! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, व्याकरण इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, देव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, ब्राह्मणत्वसम्पादक विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या—यह सब कुछ पढ़ा है। किन्तु—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। श्रुतँ हि मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु; इति ॥

छा० उ० ७।१

'महाराज ! यह सब कुछ पढ़कर भी मैं केवल मन्त्रवित्=मन्त्र मात्र का जानने वाला हूँ। आत्मवित नहीं हूँ ! मैंने आप ऐसे महापुरुषों से सुन रखा है, आत्मवित्=आत्मज्ञानी शोक से परे हो जाता है, किन्तु मैं तो शोकनिमग्न हूँ। महाराज ! मुझ शोक निमग्न को पार कीजिए, तार दीजिए।'

नारद के इस कथन से स्पष्ट है कि केवल पढ़ लेने से मनुष्य के दिल की कली नहीं खिलती। हृदय की गांठ खोलने के लिए कुछ और चाहिए। तभी तो सनत्कुमार ने नारद को कहा—'नारद, जो कुछ तुमने पढ़ा है यह सब नाम है, शब्दमात्र है।'

नारद जागता था, उसने भरपूर जिज्ञासा की और—

'तस्मैमृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः'

छा० उ० ७।२६।२॥

'उस दोषरहित को भगवान् सनत्कुमार ने अन्धकार का पार दिखा दिया।'

नारद सावधान था, जागता था, उसे बोध था कि पढ़-लिख कर भी मेरा मन शान्त नहीं। उसने यत्न किया और पार हो गया। इस भाव को लेकर वेद कहता है—

यो जागार तमु सामानि यन्ति।

जो जागता है उसे साम=शान्तियाँ प्राप्त होती हैं।

जागनेवाला पुरुष निरन्तर प्रयत्न करता है। वह पढ़े-लिखे को साक्षात् Realise करने का यत्न करता है। यत्न करके परम शान्ति के धाम को प्राप्त कर लेता है और अपना आचार-व्यवहार, आहार आदि सब सुधार लेता है। उसे बोध हो जाता है कि आहार का(अन्न का) मन पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। कहा भी है—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धिः ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिप्रतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोचः।

छा० उ० ३। ७। २५ ॥ २॥

भोजन की शुद्धि से बुद्धि निर्मल होती है, बुद्धि की निर्मलता से स्मृति निश्चल होती है, स्मृति की निश्चलता से सब गांठें खुल जाती हैं।

बुद्धि जब मैली होती है, उसमें चञ्चलता रहती है। शुद्ध होने पर वह शान्त हो जाती है, फिर वह प्रत्येक पदार्थ का ठीक-ठीक मनन कर सकती है। पदार्थों के मनन करने से उसे सब पदार्थों में परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं। परमात्मा के दर्शन होने पर कोई गांठ रह ही नहीं सकती। यजुर्वेद ४०।७ में बहुत सुन्दर शब्दों में इस तत्व को समझाया गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जिस अवस्था में ज्ञानी को यह भान हो जाता है कि परमात्मा सब पदार्थों में व्यापक है, ऐसे साक्षात्कारी ज्ञानी को उस अवस्था में कैसा शोक और कैसा मोह ?[1]

केवल शब्दों के पढ़ लेने से ही शोक मोह दूर नहीं हो सकते, साक्षात्कार करने से ही वे दूर होंगे। साक्षात्कार सोए हुए पुरुष को नहीं हो सकता। जागनेवाले को साक्षात्कार और शान्ति मिल सकती है, अतः वेद का यह कहना कि—

यो जागार तमु सामानि यन्ति अत्यन्त उचित है।

शान्ति तो भगवद्दर्शन से प्राप्त होती है। भगवान् को खोजने के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, वरन भगवान् कहते हैं—

यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।

जो जागता है, भगवान् का और उसका ठिकाना एक है। जब सब पदार्थों में भगवान् विराजमान है, तब उसके आत्मा में भी है, फिर वह इधर-उधर क्यों जाए ? जब वह उसके अन्दर रहता है, तब जगानेवाला, सावधान रहनेवाला सदा उसके दर्शन करता है। अतः सदा जागते रहो। किसी ने कहा भी है—

सोने से मुसाफिर को है ख़तरा ।

सो जाने से, प्रमाद करने से मनुष्य को भय की संभावना है। कुछ प्राप्त करने की इच्छावाले को जागना ही उचित है।

---

[1] इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या के लिए हमारी लिखी 'ईशोपनिषद् की व्याख्या' (उर्दू) देखिए।

❀ जीवन नष्ट मत कर ❀

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति
यथा ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा
धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥

ऋ० १० । १८ । ५ ॥

यथा अहानि –जैसे दिन-रात
अनुपूर्वं भवन्ति --क्रमपूर्वक होते हैं ।
यथा ऋतवः-जैसे ऋतुएं ।
ऋतुभिः—ऋतुओं के साथ ।
साधु यन्ति—ठीक चलती हैं ।
यथा अपरः—जैसे पिछला ।
पूर्वम्—पहले को ।
न जहाति—नहीं छोड़ता है ।
धातः—ऐ जीवन धारण करने वाले !
एवा एषाम्—इसी प्रकार इन [इन्द्रियादिक] की ।
आयूंषि—जीवनों को ।
कल्पय–सफल कर ।

पिछले उपदेश में जागने (सावधान रहने) का फल बताया गया है । इस प्रवचन में सावधान मनुष्य को जीवन सफल करने का उपदेश करते हुए कहते हैं कि यह सारी सृष्टि किसी नियम से चल रही है ।

वेद कहता है देखो—दिन और रात अनुक्रम से होते हैं । दिन के बाद रात, रात के बाद दिन अवश्यम्भावी है। दिन-रात की

देशभेद के कारण छुटाई-बड़ाई तो होती रहती है जैसे उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव में छः छः मास के दिन और रात होते हैं। किन्तु दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आना अनिवार्य है। इस व्यवस्था का उल्लंघन नहीं होता है। यह बराबर चलती रही है।

इसी प्रकार ऋतुओं की व्यवस्था है। किसी प्रदेश में दो ऋतुएं हैं, किसी में तीन, किसी में चार, किसी में पांच और किसी में छः होती हैं। किन्तु होती क्रम से हैं। जहां दो ऋतुएं हैं शीत और ग्रीष्म, वहां शीत के पश्चात् ग्रीष्म और ग्रीष्म के पीछे शीत निरंतर अनुक्रम से आती रहती हैं। इसीप्रकार तीन, चार, पांच, छः जैसे भी हैं, अनुक्रम से आती हैं।

सूर्य्य की किरणें हमारे भूभाग पर सीधी पड़ने लगीं, ग्रीष्म ऋतु बन गई। सूर्य्य ने ग्रीष्म काल में अपनी प्रखर-प्रचण्ड रश्मियों से भूमिस्थ जल को सुखा वाष्प बना ऊपर चढ़ा दिया। जल के निरन्तर ऊपर जाने से ऊपर का प्रदेश शीतल होने लगा, ऊपर गया वाष्प भारी होने लगा। नीचे से धूलिकण भी ऊपर पहुँचते रहते हैं, उनके मेल से वाष्प और भारी हो गया, बस फिर वाष्प ने पानी का आकार धारण किया और नीचे गिरा, वर्षा ऋतु आ गई। घूमने के कारण पृथ्वी अब ऐसी परिस्थिति में आ गई कि उस पर सूर्य्य की किरणें सीधी नहीं पड़तीं, अतः पृथ्वी पर गरमी भी नहीं पड़ती, वरन् शीत प्रतीत होती है, यह शीत ऋतु के आगमन का प्रमाण है।

इस प्रकार देखें, ऋतुएं भी ठीक अनुक्रम से चल रही हैं!

अगले और पिछलों का भी सम्बन्ध है। जैसे दिन के बाद रात आती है, ऐसे ही पूर्ववर्त्ती वस्तु के साथ उनके पीछे आने वाला पदार्थ उसको पकड़े हुए हैं। अर्थात् सावधान होकर देखो, यहां व्यवधान नहीं है, नैरन्तर्य्य का राज्य है।

तीन दृष्टान्त देकर आदिगुरु करुणानिधान भगवान् आदेश करते हैं—

एवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ।

हे धाता ! तू इतने जीवों को सफल कर ।

यदि ऋतुओं का क्रम टूट जाए, तो इनके प्रयोजन की सिद्धि न हो, दिन-रात का सिलसिला टूट जाए। सदा दिन-ही-दिन रहे रात कभी हो ही न; या सदा रात ही रहे दिन कभी हो ही न; तो जीवों का जीवन नीरस हो जाए। इनकी सफलता अनुक्रम में है। हे धातः=शरीरेन्द्रिय आदि के धारक जीव ! तू भी अनुक्रम बना। अपने जीवन का कार्य्यक्रम बना, तब तेरे शरीर, करणों, उपकरणों की सफलता हो सकेगी, अन्यथा नहीं !

शरीर इन्द्रियादि के साथ आत्मा का संयोग होने से जीवन होता है। आत्मा तो नित्य है, आत्मा को किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह शरीर आदि साधन मिले हैं। इनकी सफलता तभी है, जब वे प्रयोजन सिद्ध हो जाएं। किन्तु प्रयोजनसिद्धि के लिए व्यवस्थित रूप से कार्य्य करने की आवश्यकता है, अतः वेद बल देता है—अनुक्रम से कार्य्य करने पर, कार्यक्रम बना कर कार्य्य करने पर।

जीव को इस मन्त्र में 'धाता' कहा है। जब तक आत्मा शरीर में रहता है तभी तक शरीर और इन्द्रिय अपना-अपना कार्य्य करते हैं। आत्मा बाहर गया, और ये सारे गिर पड़ते हैं। अर्थात् इनकी स्थिति (कार्य्य करने की सामर्थ्य) और योग्यता तभी तक है जब तक आत्मा ने इन्हें थाम रखा है, जब तक आत्मा का इनके साथ सम्बन्ध है। आत्मा का सम्बन्ध टूटा और यह फूटे।

आत्मा को 'धाता' कहने का एक और भी गूढ़ अभिप्राय

है। 'धाता' शब्द का एक अर्थ निर्माता, रचयिता, बनानेवाला भी होता है। सचमुच जीवात्मा धाता है। जीव ने सृष्टि रची है, आज उसकी गणना करना भी लगभग असम्भव है। गाड़ी, टांगा, मोटरकार, रेलगाड़ी, वायुयान, जलपोत आदि यातायात के साधन मनुष्य-आत्मा की रचना है। इसी प्रकार रहने के अनेक प्रकार के घर इस तुच्छ प्रतीत होनेवाले मानव-आत्मा के कौशल के परिचायक हैं। तार, बेतार का तार, टेलीफोन आदि सन्देश-वाहक-साधन आत्मा की सूक्ष्म क्षमता की सूचना दे रहे हैं। शीत, आतप, वर्षा से अपने तन के त्राण के लिए मनुष्य ने वस्त्रादि की अद्भुत सृष्टि करके मानो प्राकृतिक शक्तियों की चुनौती को स्वीकार किया है। नूतन पुष्पों और फलों की सृष्टि करके तो यह सचमुच सृजनहार बन गया। हां,परमविधाता और इस विधाता में एक अन्तर अवश्य है। परम विधाता की सारी रचना दूसरों के लिए होती है। वह 'अकाम' है। वह 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (ऋ. १।१६४।२२) है। वह किसी वस्तु का भोग नहीं करता, प्रत्युत केवल द्रष्टा = साक्षी है। इसके विपरीत इस विधाता की सारी रचना अपने सुख संविधान को लक्ष्य करके होती है। क्योंकि यह भोक्ता है—'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (ऋ० १।१६४।२२) स्वादुफलों को खाता है, क्योंकि यह 'अश्नः' (ऋ० १।१६४।१) है। यह कामनाक्रान्त है। रो-रोकर यह कह कहता है—'न मे कामो अपवेति (ऋ०)=मेरी कामना हटती नहीं। इसकी कामनाएँ (स्वार्थसिद्धि की अभिलाषाएं) इसे स्रष्टा(धाता) बनाती हैं, और भगवान् को परहितसाधन भावना, जीवों को भोग, मोक्ष देने की कमनीय कामना अर्थात् निस्वार्थ निष्काम-भावना धाता बनाती है, अतः वह अनश्नन्=अभोक्ता है।

ससीम होती हुई भी इसकी निर्माणशक्ति असीम-सी है, क्योंकि कोई नहीं कह सकता भविष्य में यह क्या-क्या बनाएगा।

यदि आत्मा इनसे स्वप्रयोजन सिद्ध न करे तब आत्मा आत्मा न रहकर भार उठानेवाला, और भार भी मृतक का, बन जाता है। शरीर इन्द्रियादि जड़ प्रकृति के विकार हैं। चेतन क्यों मृतक (जड़) का भार उठाए? वेद सावधान करता हुआ कहता है—

एवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्।

जीवन का अधिकारी

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य
शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्नेषामप्सुवाहो मयोभून्
य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥

सा० पू० ४।१।५।१०

कः अद्य—कौन आज ?
शिमीवतः—कर्म्म करनेवाले ।
भामिनः—तेजस्वी, क्रोधी ।
दुर्हृणायून्—कठिनता से हटाए जा सकने वाले ।
गाः—इन्द्रियों को ।
ऋतस्य धुरि—ऋत के धुरे में ।
युङ्क्ते—जोड़ता है ।
एषाम् आसन्—[जो] इन के मुख में [लगाम देकर]
अप्सुवाहान्—[इन] कर्म्म करने वालों को ।
मयोभून्—सुखदायक [करता है]
यः एषाम्—[और] जो इनके ।
भृत्याम्—पोषण को ।
ऋणधत्—घटाता है, बढ़ाता है ।
सः जीवात्—वह जीवे, जीने का अधिकारी है ।

पिछले प्रवचन में जीवन को सफल करने का उपदेश था: इस मन्त्र में जीवन के अधिकारी का निरूपण है ।

पहले चरण में वेद ने एक उद्वेजक प्रश्न पूछा है । यह प्रश्न सनातन है, इसमें सूक्ष्म उपालंभ-सा है । प्रश्न है—

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य ?

'कौन अपनी इन्द्रियों को ऋत के धुरे में जोड़ता है ?'

आज का संसार तो आचरण से ऋत का विरोधी बन रहा है। कदाचित् मनुष्य सदा ही ऋतविरोध करता रहा है, नहीं तो शतपथब्राह्मणकार यह क्यों कहते कि—

सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः

देव सत्य हैं, और मनुष्य हैं अनृत। (अन्-ऋत=ऋत-विरोधी।)वेद का आदेश है—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि । य० १ । ५

'मैं इस अनृत को त्यागकर सत्य को प्राप्त करता हूँ।' यह व्रत है।

मनुष्य को व्रत तोड़ने में, नियमभंग करने में विशेष आनन्द आता प्रतीत होता है। तभी आदिगुरु का सारी प्रजा के प्रति प्रश्न है—

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य ?

अर्थात् कौन आज देव बनना चाहता है? देव बनना हो तो आज बन लो। कल नाम काल का है, जाने आए या न आए। तलवकार ऋषि ने मार्मिक शब्दों में कहा है—

इह चेतवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। केनो० २।१३

इसी समय जान लिया तो ठीक है। यदि इसी समय नहीं जाना, तो महान् विनाश है।

सत्य है। जानो, पहचानो। इन्द्रियरूपी घोड़ों को, बैलों को ऋत के जुए में जोत दो।

वेद आदि शास्त्रों में इन्द्रियों को गौ, अश्व आदि अनेक नाम दिए गए हैं। इन्द्रिय सचमुच पशु हैं। पशु को नियन्त्रण

में न रखोगे तो वह उपद्रव करेगा।

वेद कहता है—यह इन्द्रिय शिमीवान् (कर्म्म करने वाली) हैं। इनसे काम लो। किन्तु स्मरण रखो यह भामी (तेजस्वी) क्रोधी भी हैं। जब आत्मा प्रमादी हो जाए तब यह तेजस्वी इन्द्रियवर्ग मानो क्रुद्ध होकर स्वेच्छाचार करता है। उस अवस्था में यह दुर्हृणायु (दुर्वार) हो जाता है।

गाड़ी में घोड़े जुते हैं। गाड़ी का स्वामी मद्य पीकर उन्मत्त है, उसे उन्मत्त देख सारथि भी प्रमत्त हो जाता है। उसके प्रमाद से घोड़ों को लगामें ढीली पड़ गई हैं। सामने घास है। घास से खिंचे घोड़े उधर दौड़ते हैं। मार्ग में गढ़ा आदि को वे देखते नहीं। घास प्राप्त करने की व्यग्रता से वे रथ को गिरा देते हैं। रथस्वामी को चोट लगती है। सारथि को घाव लगते हैं और स्वयं घोड़े भी चोट खाते हैं। यही अवस्था इन्द्रियरूपी घोड़ों की है। रथस्वामी आत्मदेव प्रमाद की मदिरा पीकर उन्मत्त हो जाता है। आत्मदेव के उन्माद के कारण बुद्धिराम भी बुद्धू बन जाता है, और मनरूपी लगाम को ढीला छोड़ देता है। बस फिर इन्द्रियरूपी घोड़ों की बन आती है। सामने आए विषयरूपी घास की ओर दौड़ते हैं। आत्मा की हानि, बुद्धिविनाश, शरीर-रथभंग और स्वयं इन्द्रिय-अश्वों को भी क्षति पहुँचती है। इस प्रकार सर्वविनाश (सत्यानाश) होता है। कठोपनिषद् में बहुत सुन्दर शब्दों में इस रूपक का चित्र खींचा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव हि।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥

कठो० २।२।३।५

'आत्मा को रथवाला (रथस्वामी) जान, शरीर को तो रथ ही जान। बुद्धि को तो सारथि और मन को लगाम जान। बुद्धिमान् लोग इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को उनका घास कहते हैं, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं। जो बुद्धिहीन असंयत मनवाला होता है, कोचवान् के दुष्ट घोड़ों की भांति इन्द्रिय उसके वश में नहीं रहती।'

जब तक आत्मा इन्द्रियों और मन के साथ लगा है, तब तक सुख-दुःख इसके साथ लगा है।

जो ऐसा प्रमादी है उसकी दशा का वर्णन इस प्रकार वहां हुआ है—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ कठो०२।२।७

'जो बुद्धिहीन है, मन जिसके पास नहीं, अर्थात् मन जिसके वश में नहीं है, वह सदा अपवित्र रहता है, वह उस ओंकार पद को प्राप्त नहीं कर सकता, वरन् बार-बार संसार (जन्ममरण के) चक्कर में पड़ा रहता है।'

इन्हीं इन्द्रिय(अश्वों) के मुख में लगाम लगा दी जाए, तो यही मयोभू (सुखदायी) हो जाते हैं, आत्मा-रथी की जीवन-यात्रा निर्विघ्न पूरी करने में सहायक हो जाते हैं। कठोपनिषद् २।२।८,९ में कहा है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परं पदम् ॥

'जो बुद्धिमान् और सावधान मनवाला है तथा सदा पवित्र रहता है, वह उस पद को प्राप्त कर लेता है जिससे फिर जन्म नहीं लेता। बुद्धि जिसका सारथि और मन जिसकी लगाम है, वह मार्ग को पार पा लेता है, यही विष्णु का परम पद है।'

अर्थात् संसार को पार कर जाना, मुक्ति प्राप्त करलेना ही विष्णु का परम पद प्राप्ति है। उसको ज्ञानी, सावधान, समाहित मनवाला, पवित्र मनुष्य प्राप्त कर सकता है। परमपद को प्राप्त करना ही वास्तविक जीवन है। वेद ने अपने निराले ढंग से इसका कथन किया है। वेद कहता है—

य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ।

जो इन इन्द्रियों की पुष्टि करे, वही जी सकता है, वही जीवन का अधिकारी है।

जिस प्रकार दुर्बल घोड़े, मरियल टट्टू रथ नहीं खींच सकते, सवार को सुखपूर्वक उद्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा सकते, उसी प्रकार निर्बल इन्द्रिय शरीररूपी रथ का संचालन नहीं कर सकते, उससे आत्मा अपना कार्य भली प्रकार सिद्ध नहीं कर सकता। आंखें यदि खराब हों तो कितना कष्ट होता है। कर्ण यदि बधिर हों तो बात ही न सुनाई पड़े, ज्ञान-प्राप्ति में बहुत बड़ा विघ्न खड़ा हो जाए। गूंगा अपने मनोभावों को अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता। तुतलाने वाले को कितना कष्ट होता है? किसी नन्हे से बालक को देखो, उसके इन्द्रिय अविकसित हैं, वह रोकर अपने भाव प्रकाशित करता है। कितनी दयनीय दशा है? अतः इन्द्रियों को सबल करो।

सबल इन्द्रियाँ काबू से बाहर होकर बड़ा अनर्थ कर सकती हैं। वेद का उसके लिए कहना है—

'य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्।

'ऋणधत्' क्रिया का अर्थ 'घटाए' ऐसा भी है।

अर्थात् इन्द्रियों को पुष्ट तो करो किन्तु इनकी वृत्ति घटाओ, सदा इनकी ही सेवा-शुश्रूषा में न लगे रहो।

इस प्रकार का व्यवहार करनेवाला मनुष्य जीने का अधिकारी है।

भाव यह कि उत्तम जीवन के लिये इन्द्रियसंयम की, इन्द्रियों को अपने आधीन रखने की नितान्त आवश्यकता है। जैसे अग्नि को वश में रखने से रेलगाड़ी, हवाई जहाज, कल-कारखाने चलाकर मनुष्य-समाज का महान् उपकार होता है और निर्बाध छोड़ देने से घर-द्वार, नगर और महान् जंगल तक को जलाकर भस्म कर देता है; ठीक इसी भांति इन्द्रियाँ-संयत की जाकर लोक में सुख-शांति, आरोग्य प्रदान कर मुक्ति की साधन बन जाती हैं और स्वतन्त्र हुईं, रोग, अशान्ति-दुःख का हेतु बनकर जन्म-मरण के चक्कर में डाल देती हैं। अतः

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्।

कोचवान् की भांति ज्ञानी इन्द्रियों के संयम में यत्न करे।

———

❀ संसार रूपी नदी ❀

अश्मन्वती रीयते संरभध्व-
मुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽसञ्-
छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥

यजु० ३५।१०

अश्मन्वती–पत्थरों वाली[नदी]।
रीयते–वेग से बह रही है।
संरभध्वम्–तुम संवेग से एक-मत होकर कार्य करो।
उत्तिष्ठत–उठ खड़े होओ।
सखायः–सखा बनकर
प्रतरत–पार कर जाओ।
ये अशिवाअसन्–जो अशिवहैं।
अत्र जहीमः–[उनको] हम यहीं छोड़ जाएं।
वयम् शिवान् वाजान्–हम कल्याणकारी वाजों को, क्रियाओं को।
अभि–सामने रखकर।
उत् तरेम–पार उतर जाएं।

वेद में संसार को कहीं वृक्ष, कहीं सागर और कहीं किसी और रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहां संसार को अश्मवती(पत्थरीली) नदी के रूप में उपस्थित किया गया है। किन्तु आदेश है कि इसे पार करो। भवसागर को पार करने की बात हमारे साहित्य में अनेक स्थानों पर है। यहां संसार को पत्थरीली नदी कहने का विशेष प्रयोजन है। पत्थरीली नदी साधारणतया पर्वतीय प्रदेशों में हुआ

करती है। उसके प्रवाह में बहुत वेग होता है। जल थोड़ा होने पर भी उसके बहाव में इतना वेग होता है कि बड़े-बड़े हाथी भी उसमें घुसने से झिझकते हैं। मनुष्य जैसे दुर्बल प्राणी तो स्वाभाविक ही उससे भयभीत होते हैं।

साधारणतया ऐसी नदी में जल इतना थोड़ा होता है कि इन में पोत या नौका चल नहीं सकती। नदी को पार करने का साधन नहीं, किन्तु पार अवश्य जाना है। उसके लिए वेद पहला साधन बताता है—

संरभध्वम् =तुम संवेग से एकमत होकर कार्य्य करो।,

अर्थात् पत्थरीली, वेग से बहनेवाली नदी को पार करने के लिए तुम में भी संवेग होना चाहिए। किसी कार्य्य के लिए जब तक व्यग्रता न हो, व्याकुलता न हो, संवेग न हो, उस कार्य की सिद्धि असंभव है। जिस कार्य्य के लिए जितनी व्याकुलता अधिक होगी, व्यग्रता प्रचण्ड होगी, संवेग तीव्र होगा, उतनी उस कार्य्य की सिद्धि आसन्न (समीप) होगी। योगदर्शन में चित्तवृत्तिनिरोध का प्रमुख उपाय अभ्यास वैराग्य बताकर कहा है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः। (समाधिपाद २१)

'तीव्र संवेगवालों के लिए चित्तवृत्तिनिरोध समीप होता है।'

किसी भी कार्य्य की सिद्धि के लिए उपाय मृदु, मध्य और तीव्र हो सकते हैं। फिर इन मृदु, मध्य और तीव्र के भी तीन-तीन भेद हो सकते हैं—मृदुमृदु, मध्यमृदु, अधिमात्रमृदु, मृदुमध्य, मध्यमध्य, अधिमात्रमध्य, मृदुतीव्र, मध्यतीव्र तथा अधिमात्रतीव्र। अधिमात्र तीव्र संवेगवालों के लिए सिद्धि आसन्नतम होती है।

संवेग का अर्थ केवल जोश ही नहीं, वरन् विवेकपूर्वक वेग है। अपने उद्देश्य का ज्ञान हो, और उस के साथ धैर्ययुक्त जोश हो।

केवल विवेक और वेग से कोई कार्य्य सिद्धि नहीं हो सकता। बहुत से विवेकी बैठे नतुनच में ही जीवन बिता देते हैं। अनेक जोशीले जन जोश से बातें करने में सारी सामर्थ्य को अकारथ कर देते हैं। अतः वेद ने दूसरा उपाय बताया—

उत्तिष्ठत(उठ खड़े हो।)

उठ खड़े होने का तात्पर्य बहुत विस्तृत है। निद्रा, आलस्य, प्रमाद का त्याग करके कार्य में लग जाओ और तब तक कार्य से अलग न हो जब तक कि कार्य की सिद्धि न हो जाए। जैसा कि कठोपनिषत् २।१।१४ में कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयोवदन्ति॥

'उठो, जागो, उत्तम पदार्थ प्राप्त करके नितरां ज्ञानयुक्त होओ। यह मार्ग छुरे की तीक्ष्ण और दुर्लङ्घ्य धारा के समान दुर्गम है। ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।'

वेद ने 'अश्मन्वती रीयते' कहा, उपनिषत् ने 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' कहा। बात एक ही है, शब्द भिन्न-भिन्न हैं।

किन्तु इसके लिए एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि अकेले इस नदी को पार नहीं कर सकते। इसके लिए अपने समान विचार-आचारवान् लोगों की मण्डली बनानी होगी। वेद समानाचार-विचारवान को सखा कहता है।

इसकी आवश्यकता यों है कि एक सद्गृहस्थ अपना घर अत्यन्त स्वच्छ रखता है, किसी प्रकार का मल आदि उसमें नहीं रहने देता, दोनों समय श्रद्धायुक्त विधि से अग्निहोत्र हवन भी करता है, परन्तु उसके घर के आसपास के घर बड़े मलिन और गन्दे रहते हैं। यदि उन घरों की गन्दगी के कारण कभी उस ग्राम

या मुहल्ले में विषूचिका, महामारी या अन्य कोई संक्रामक रोग उठ खड़ा हुआ तो निश्चय जानिए उस सदा स्वच्छ रखे जाने-वाले घर में भी उस मारक रोग का प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

और दृष्टान्त लीजिए, और आजकल का दृष्टान्त लीजिए। कालेजों में छात्र पढ़ने जाते हैं, कालेज में प्रविष्ट होने से पूर्व उनमें से अनेक श्रद्धापूर्वक सन्ध्यादि नित्यकर्म करते हैं, किन्तु कालेज के वातावरण में आकर वे भी छोड़ बैठते हैं, क्योंकि उन में उपहास सहने का बल नहीं होता। यदि समान विचारवालों की एक मण्डली हो, अर्थात् साधक अकेला न रहकर अपने विचारवालों का संघ बनाले तो साधना में सरलता तथा सुभीता होता है। समान विचारवाले सखा परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए ऊपर उठ जाते हैं। जैसा कि कहा भी है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

'एक दूसरे की सहायता करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हो।'

मित्र-मित्र को गिरने नहीं देता। वेद कहता है—

सखा सखायमतरद्विषूचोः—'मित्र-मित्र को विषमता से बचता है।'

इस प्रकार मित्र-मण्डल बनाकर संसार को पार कर जाओ। नदी पार करने में बोझा बड़ी रुकावट होता है। अतः वेद कहता है—

अत्रा जहीमो अशिवा येऽसन्।

'जो दोष हैं, अमङ्गल हैं, दुरित हैं, उन सबको हम यहीं छोड़ते हैं।'

कामक्रोधादि दुर्व्यसन अशिव हैं। उन को छोड़े बिना शिव की, कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अमंगल को त्यागने से शिवप्राप्ति स्वतः हो जायगी।

———

❀ दुर्व्यसन त्याग

उलूकयातुमुत शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥ अ० ८।४।२२

उलूकयातुम्-उल्लू की चाल को।
उत शुशुलूकयातुम्-और भेड़िये की चाल को।
श्वयातुम्-कुत्ते की चाल को।
उत-और।
कोकयातुम्-हंस या चिड़िया की चाल को।
सुपर्णयातुम्-गरुड़ की चाल को।
उत-और।
गृध्रयातुम्-गिद्ध की चाल को।
जहि-मार दे।
इन्द्र-हे ऐश्वर्य्याभिलाषिन्!
रक्षः-[दुर्व्यसनरूपी]राक्षस को।
दृषदा+इव-मानो पत्थर से।
प्र-मृण-मसल दे।

इस वेदमन्त्र में पशु-चाल का दृष्टान्त देकर दुर्व्यसन त्यागने का उपदेश है। इससे एक और उपदेश भी है कि पशुओं के स्वभाव का परिज्ञान करो, क्योंकि जब तक पशुओं के स्वभाव का ज्ञान न हो,तब तक उनकी चाल का त्याग कैसे बन सकता है?

सब से पहले यहाँ उल्लू की चाल के त्यागने का आदेश है। उल्लू अन्धकार में रहना पसन्द करता है, प्रकाश से घबराता है। इसी प्रकार जो जन अज्ञानान्धकार में ही मस्त रहना चाहते हैं,

ज्ञानालोक से घबराते हैं, वे मानो उल्लू की चाल का अनुसरण करते हैं। शास्त्र में ऐसे लोगों को मूढ़ या मोहबुद्धिवाला कहा जाता है। मोह (अज्ञानावृत्त) रहने की प्रवृत्ति से सब पापों की उत्पत्ति होती है। अत एव न्यायदर्शन के भाष्यकार श्रीवात्स्यायन मुनि जी ने लिखा है—

मोहः पापीयान्। मोह सबसे बुरा है।

जीव की अज्ञानता एवं मोह के कारण सब दोष होते हैं। जीव पहले ही अज्ञ है और जब दुर्भाग्यवश अज्ञान अच्छा लगने लगे तब कितनी दयनीय अवस्था होगी!

जब मनुष्य की आँखों में कोई रोग हो जाए, तब आँख सूर्य्य के प्रकाश से घबराती है, और उसे अन्धकार में रहना अच्छा लगता है। उल्लू का सूर्य्य-प्रकाश से घबराना और अन्धकार को चाहना बतला रहा है कि उसकी नेत्र-रचना में कोई दोष है। इसी प्रकार जो जीव मनुष्य जन्म पाकर भी ज्ञान के प्रकाश से भागता है और अज्ञान को अपना शरण मानता है, उनके अन्तःकरण में भी दोष मानना पड़ता है। एक मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसमें ज्ञानोपार्जन के साधन मिलने संभव हैं। उसे प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा न करना पूर्व जन्म के किसी भयंकर पाप का फल है। किसी कवि ने कहा है—

यद्यपि तरणेः किरणैः सकलमपि विश्वमुज्ज्वलं विदधे।
तदपि न पश्यति घूकः पुराकृतं भुज्यते कर्म॥

यद्यपि सूर्य्य की किरणों ने इस सारे विश्व को प्रकाशित कर दिया है, तो भी उल्लू नहीं देखता। यह पूर्व किए कर्म का भोग है।

कवि ने ज्ञान-साधनों की बहुतायत होने पर भी ज्ञानप्राप्ति करनेवाले मनुष्य को लक्ष्य करके कहा है—ऐसा मनुष्य देखत

हुआ भी नहीं देखता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है।

मोह के कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। प्रिय पदार्थों में—सुख की प्रतीति करानेवाले पदार्थों में—मनुष्य को राग होता है। दुःख का आभास करानेवाले अप्रिय पदार्थों के प्रति प्राणी को द्वेष होता है। राग और द्वेप दोनों मिलकर क्रोध को उत्पन्न करते हैं। प्राणी जिस वस्तु से राग रखता है, यदि वह प्राप्त न हो या छिन जाए तो उसे क्रोध आता है। इसी प्रकार अप्रिय पदार्थ का यदि मेल हो जाए तो भी क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध क्या है—जिघांसा (दूसरे को मारने की इच्छा)। भेड़िया बहुत हिंसक है। सिंह आदि की अपेक्षा भेड़िया अधिक क्रूर है। कारण के बिना आक्रमण कर देता है। तृप्त होने पर भी प्राणि-हिंसा कर देता है, क्रोधी की तृप्ति नहीं हुआ करती। अज्ञानजन्य क्रोध को कौन शान्त कर सकता है? वेद ने इसी कारण कहा है—

शुशुलूकयातुं जहि। 'भेड़िये की चाल छोड़ दे।'

क्रोध के साथ एक और सूक्ष्म भाव अनुस्यूत रहता है, वह है मत्सर का—दूसरे के उत्कर्ष को सहन न करने का। ऐसे मत्सरी प्राणी दूसरे को देखना तक नहीं चाहते। कुत्ते में यह स्वभाव बहुत प्रबल है। कुत्ता अपनी गली में दूसरे कुत्ते को आया देखकर गुर्राने लग जाता है, वह उस पर आक्रमण भी कर देता है। इसी प्रकार मत्सरी अपने सजातीय को देखकर कुढ़ने, जलने लग जाता है।

मत्सरी प्राणी चापलूस भी परले सिरे का होता है। उसका स्वभाव दब्बू होता है। कुत्ता स्वजातीय से तो वैर करता है किन्तु मनुष्य के आगे नाना प्रकार से पेट आदि दिखाकर चापलूसी करता है। कुत्ता जब किसी दूसरे की गली में जाता है, तो अपनी दुम को पहले ही नीचा कर लेता है। इस प्रकार मत्सरी

चाहे अपना प्रयोजन हो या न हो, दूसरे के मार्ग में अवश्य रोड़ा अटका देता है। कुत्ता भूखा न होने पर भी रोटी आदि उठा लाता है, और कहीं छिपाकर गाड़ देता है, और प्रायः फिर भूल जाता है। इस कारण वेद ने मत्सरवृत्ति को कुत्ते की चाल से उपमा देते हुए इसे त्यागने का उपदेश किया है—

जहि श्वयातुम्। 'कुत्ते की चाल छोड़ दे।'

जहाँ मोह, क्रोध और मत्सर की सत्ता है, वहां कामवासना भी अवश्य होती है। मनुष्य के अन्दर कामना न हो तो उसमें मत्सर तथा क्रोध भी न रहें। पक्षियों में हंस बहुत कामी होता है। हंस अपनी कामुकता के कारण पकड़ा जाता है। काम मनुष्य को अन्धा कर देता है। एक कवि ने काम के मुख से कहलाया है—

अन्धीकरामि भुवनं बधिरीकरोमि जगत्।

'मैं संसार को अन्धा कर देता हूँ, मैं जगत् को बहिरा कर देता हूँ।' कामी मनुष्य प्रायः सदुपदेश नहीं सुनता। नीतिकारों ने कहा है—

कामातुराणां न भयं न लज्जा।

'काम के वशीभूत होकर मनुष्य व्याकुल हो जाता है, फिर उसे किसी का डर नहीं रहता और वह सर्वथा निर्लज्ज हो जाता है।'

काम बुद्धि को हर लेता है। कोक का अर्थ- चिड़िया भी होता है। चिड़िया भी बहुत काम-व्यस्त होती है अतः वेद ने कहा—

कोकयातुम्......।

संसार में किसी को राज्य का मान है, किसी को धनसंपत्ति का मान है, किसी को शारीरिक-शक्ति का अभिमान है, और

किसी को है अपने शरीर-सौन्दर्य का गर्व। रूप-सौन्दर्य पर राजाओं को राज्यसंपत्ति गंवाते देखा-सुना जाता है। रूप की भट्ठी में लोगों को अपना शरीर स्वाहा करते देखा गया है। अतः गर्व का मूल प्रधानतया सुरूपता (सौन्दर्य्य) है। गरुड़ पक्षी को अपने सुन्दर परों का बड़ा घमण्ड होता है। रूप भी नित्य नहीं है। वेद में एक स्थान पर आया है----

नभो न रूपं जरिमा मिनाति। (ऋ० १।७०।१०)

'रूप बादल की भांति है, जैसे हवा बादल को उड़ा ले जाती है, वैसे बुढ़ापा रूप को उड़ा ले जाता है।'

अतः इस पर गर्व वृथा है। इसीलिए 'सुपर्णयातुम्'—गरुड़ की चाल अहंकार के त्यागने में है।

मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद या अहंकार के अतिरिक्त एक और वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य को बहुधा अपमानित होना पड़ता है। वह है, लोभ की वृत्ति, लालच का भाव।

पीक को सोने का सिक्का समझ लालची उसमें भी हाथ डाल देता है, फिर उसे लज्जित होना पड़ता है। पशु-पक्षियों में कदाचित गिद्ध सबसे अधिक लालची है। दूर से उसे मुर्दार (मृतक शव) का पता लग जाता है। वेद कहता है—

गृध्रयातुम् ...। गिद्ध की चाल छोड़ दे।

गिद्ध को मुर्दार ही खाने को मिलता है। लालची की भी ऐसी दुर्दशा होती है।

मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभ इन छहों में एक बात सांझी है। जब इनमें से किसी का भी प्राबल्य हो जाता है तब मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। विवेक नष्ट होने पर मनुष्य का मनुष्यत्व समाप्त हो जाता है। मनुष्य के मनुष्यत्व का मूलाधार विवेक (विचार) ही है। यदि वह नष्ट हो गया तो

मनुष्यत्व कहाँ रहा ? हाँ, आकार, शक्ल अवश्य शेष है।

मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि इनसे अपनी रक्षा करे। जिस वस्तु से बचा जाए, बचने का यत्न किया जाए, वेद की भाषा में उसे रक्षः (राक्षस) कहते हैं। अतः वेद ने इन छहों को राक्षस नाम देकर आदेश किया है—

दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र।

'हे ऐश्वर्याभिलाषिन्। दुर्व्यसनरूपी राक्षस को मानो पत्थर से (पत्थर समान कठोर शास्त्र से) मसल दे, कुचल दे।'

पिछले अन्त्र में आया था--

अत्रा जहीमो अशिवा ये असन्।

'संसार-नदी को तरने के लिए, पार करने के लिए अमंगल का भार यहीं छोड़ जाएं।'

इसमें अशित्रों में से कुछ एक का, जो सबसे तीव्र हैं, निर्देश कर दिया गया है।

दुर्व्यसन-त्याग के उपदेश के अतिरिक्त इस वेदमन्त्र में एक गम्भीर तात्विक उपदेश है—

'हे मनुष्य ! तू मनुष्य है। पशु-पक्षी आदि हीनयोनिगत प्राणियों का अनुकरण मत कर। वह तुझे पशु बना देगा, नीचे गिरा देगा। तू 'जीवधन्य' (सब प्राणियों में श्रेष्ठ) है, तू मनुष्य है।'

जो लोग अपने आहार-व्यवहार आदि के लिए सृष्टिनियम, स्वाभाविक नियम Natural Law की आड़ लेकर पशुओं का अनुकरण करते और करने का उपदेश करते हैं मानो अपने को तथा दूसरों को पशु बनाने का यत्न करते हैं।

———

१६

❀ ईर्ष्या-विनाश ❀

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्याः उतापराम् ।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि ॥ अ० ६।१८।१

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ अ० ६।१८।२

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णु कम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥

अ० ६।१८।३

ईर्ष्यायाः—ईर्ष्या के ।
प्रथमाम्—पहले ।
ध्राजिम् उत—वेग को और ।
प्रथमस्याः—पहले के [बाद होने वाले]
अपराम्—दूसरे अर्थात् ईर्ष्या के फलस्वरूप ।
हृदय्यम्—हृदय में होने वाले ।
ते शोकम्—तेरे शोकरूप ।
तम् अग्निम्—उस अग्नि को ।
निर्वापयामसि—हम बुझाते हैं ।
यथा भूमिः—जैसे भूमि ।
मृतमनाः—मृतक के मरे मन के समान है ।
मृतात्—[और] मुरदे से [भी]
मृतमनस्तरा·अधिक मुर्दादिल है ।
यथा मम्रुषः—[और] जैसे मरने वाले का ।
मनः—मन [होता है]
एव ईर्ष्योः—इस प्रकार ईर्ष्या

करने वाले का।
मनःमृतम्–मन मुरदा होता है।
अदः यत्–यह जो।
ते हृदि–तेरे हृदय में।
कम्-सुखाभास देने वाला(किंतु
पतयिष्णु-पतनशील,गिरनेवाला
मनस्कम्–तुच्छ मन, मनोभाव
श्रितम्–रह रहा है।
ततः ते–यहां से तेरी।
ईर्ष्याम्–ईर्ष्या को।
मुंचामि-छुड़ाता हूँ,दूर करता हूँ।
इव दृतेः–जैसे धौंकनी से।
ऊष्माणम् निः–गरमी को निका-
लता हूँ।

दूसरे की उन्नति देखकर और स्वयं वैसा करने में अपने को असमर्थ पाकर उस उन्नत पुरुष के प्रति हृदय में जो जलन पैदा होती है उसको ईर्ष्या कहते हैं।

इन तीन मन्त्रों में ईर्ष्या की उत्पत्ति, फल तथा ईर्ष्या करने वाले की मानसिक दशा का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

पहले मन्त्र में ईर्ष्या के दो वेग बताए गए हैं। पहला तब पैदा होता है, जब मनुष्य अपने से किसी उन्नत, उत्कृष्ट को देखता है, उससे उसके अन्दर एक आश्चर्य भावना उत्पन्न होती है। अगले क्षण में अपने को वैसा बनने में अशक्त अनुभव कर जलन के भाव उसमें पैदा होते हैं, यह ईर्ष्या का दूसरा वेग है। इस शोक और दाह से दूसरे को हानि नहीं होती, वरन् अपना हृदय जलता है।

यों समझिए कि किसी पर हम कीचड़ फेंकना चाहते हैं, तो उसके लिए पहले हमें कीचड़ उठाना होगा। अर्थात् अपने हाथों में कीचड़ लगाना होगा। इसी तरह ईर्ष्या के कारण दूसरे को हानि पहुँचाने से पूर्व हमें स्वयं अपने हृदय को जलाना होगा। जिस प्रकार दूसरे पर कीचड़ फेंकते हुए अपने ऊपर भी कीचड़ पड़ जाता है, उसी भांति ईर्ष्या के वश दूसरे पर क्रोध करते हुए या गाली आदि देते हुए अपनी जिह्वा या मुख मलिन करने होते हैं। अर्थात् ईर्ष्या का मुख्य कुफल ईर्ष्यालु (ईर्ष्या करनेवाले) को

भोगना पड़ता है। ईर्ष्या एक ऐसी आग है, जो पहले प्रदीप्त करने वाले को ही जलाती है, अतः वेद कहता है—

तं ते निर्वापयामसि ।

'तेरी उस आग को—हृदय की जलन को—हम बुझाते हैं ।'

ज्ञानी गुरुओं का काम है, शिष्य को ईर्ष्या से बचा रखना । योगदर्शन में इसी कारण सुखी मनुष्य को देखकर उससे मैत्री करने और पुण्यात्मा को देखकर प्रसन्न होने का उपदेश किया गया है —

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्यभावनातश्चित्तप्रसादनम् । (समाधिपाद ३३ ।)

'सुखी मनुष्यों के साथ मैत्री करने से, दुखियों पर करुणा, दया करने से, धर्म्मात्माओं को देखकर प्रसन्न होने से और पापियों से उपेक्षा करने से मन निर्मल होता है ।'

ईर्ष्या मन को मैला करती है। अतः ईर्ष्या के स्थान में योग-दर्शन का बतलाया कार्य्य करना चाहिए ।

अग्नि जलाकर भस्म कर देती है, यह स्वाभाविक है । ईर्ष्या अग्नि है । यह भी ईर्ष्यालु को जलाकर भस्म कर देती है । ईर्ष्यालु की दुर्दशा का वेद में बहुत ही करुणाजनक शब्दों में वर्णन किया गया है । वेद कहता है—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।......

जैसे भूमि मुरदादिल होती है, वरन् मुरदा से भी मुरदादिल होती है । जैसे मुरदे का मन मरा हुआ होता है ऐसे ही ईर्ष्यालु का मन होता है ।

भूमि के मुरदा होने में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता । वेद कहता है, वह तो मुरदे से अधिक मरी हुई होती है । भूमि

पर नाना प्रकार का गन्द-मल फेंका जाता है, नाना प्रकार के कुकर्म किए जाते हैं, इसी प्रकार जिसने ईर्ष्या के कारण अपने मन का नाश कर दिया है, अब उसकी मनोभूमि में चाहे कैसे ही गन्दे संस्कार और विचार आएं, उसे ग्लानि नहीं होती। ग्लानि कैसे हो ? मन मर चुका। मन ही प्रतीत करता था, वह रहा नहीं। अब किस साधन से आत्मा को गन्द का ज्ञान हो।

दूसरी उपमा और भी प्रांजल है। मरनेवाला अपने सगे सम्बन्धियों को भी नहीं पहचान पाता। मरनेवाले के चारों ओर सम्बन्धी इकट्ठे होते हैं और पूछते हैं—

मां जानासि, मां जानासि। 'मुझे पहचानता है ? मुझे पहचानता है ?'

किन्तु वह किसी को नहीं पहचानता। यही अवस्था ईर्ष्यालु के मन की होती है। अर्थात् जिस प्रकार मृत्यु मन को मूर्छित कर देती है, सगे सम्बन्धियों की पहचान का ज्ञान नहीं रहने देती, ईर्ष्या भी मन को मूर्छित कर देती है। वेद का कहना यह है कि ईर्ष्या मृत्यु का एक रूप है। ईर्ष्या करके तुम मृत्यु को बुला रहे हो। क्या मरना चाहते हो ? मरना तो कोई नहीं चाहता। जो लोग ईर्ष्या-द्वेष में फंसे रहते हैं वे अपने जीवन की घड़ियां कम कर रहे हैं। वेद दीर्घजीवन के लिए सद्भावों को प्रथम स्थान देता है। मृत्यु से बचने, दीर्घ-जीवन पाने के लिए ईर्ष्या का त्याग सर्वथा आवश्यक है। अतः वेद ने कहा है—

अदो यते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्
ततस्त ईर्ष्यां मुंचामि—

'यह जो तेरा पतनशील तुच्छ मन है, जिसमें ईर्ष्या बस रही है, उससे ईर्ष्या को हटाते हैं।'

अतः मन में शिवसंकल्पों की भावना सदा जागरूक रखनी

चाहिए। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' का जाप निरन्तर करना चाहिए। जब सब के लिए कल्याण-भावना मन में होगी, तब यहां ईर्ष्या का वास न हो सकेगा।

यह निश्चय है, जिस मन में ईर्ष्या रहती है, उसमें विद्वेषाग्नि जलती रहती है, उससे ईर्ष्यालु ही जलता है। मन का स्वभाव तथा सामर्थ्य एक समय में एक ही कार्य्य कर सकने का है, अतः ईर्ष्या की जलन के समय उसमें सद्भावों का उदय नहीं हो पाता। जिस प्रकार भौतिक अग्नि में पड़ी वस्तु जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार ईर्ष्या-अग्नि में पड़ा मन जलकर मानो राख हो जाता है, अर्थात् वह स्वकार्य्य नहीं कर पाता। मन का कार्य्य है विचार करना, विवेक करना, हिताहित, भले-बुरे की परख करना, आत्मबोध करना आदि। ईर्ष्यालु के मन में तो ईर्ष्या ने आसन लगाया है, उसे और कुछ सूझता नहीं। ईर्ष्या के कारण बुद्धि, विवेक का नाश होता है। विवेक के कारण मनुष्य मनुष्य है। जब मनुष्यत्व का साधन ही लुप्त हो गया, तब उसके मरने में सन्देह ही क्या रहा ?

सारांश यह कि ईर्ष्या से मनुष्य का भयंकर पतन होता है। अतः उससे बचने का यत्न करना चाहिये। यद्यपि इन मन्त्रों में भी साधन का निर्देश है, तथापि स्पष्ट बोध के लिए अगले प्रवचन को देखिए।

———

❀ ईर्ष्या की औषधी ❀

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्य्या भृतम्।
दूरात्त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥
अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्‌नाग्निमिव शमय ॥

अ० ७। ४५। १। २॥

मन्यो–हे मननशक्ते! विचार-सामर्थ्य!
सिन्धुतः–समुद्र के समान गम्भीर अथवा करुणा-रसपूर्ण।
विश्वजनीनात्–सब लोगों के हितैषी।
जनात्–मनुष्य से [तुझे]
परि + आभृतम्–पूर्णरूप से ग्रहण किया है।
दूरात्–बहुत कठिनता से।
ईर्ष्यायाः नाम–ईर्ष्या की। प्रसिद्ध।
भेषजम् त्वा–औषध तुमको।
उद्भृतम्–उत्तमता से पाला और धारा है।
अग्ने + इव–अग्नि के समान।
दहतः–जलाने वाले।
अस्य–इस ईर्ष्यालु मनुष्य की।
पृथक्–[और] पृथक्-पृथक् प्रत्येक पदार्थ को।
दहतः–जलाने वाले।
दावस्य–दावानल जंगल की आग के समान।
एतस्य–इस ईर्ष्यालु मनुष्य की।
एताम् + ईर्ष्याम्–इस ईर्ष्या को।
शमय–शान्त कर।
इव उद्ना–जैसे जल के द्वारा।
अग्निम्–अग्नि को [शान्त करते हैं।]

इन दो मन्त्रों में ईर्ष्या की औषधी बताई गई है। दूसरे मन्त्र में ईर्ष्या का भयंकर स्वरूप बताया गया है। जंगल में जब आग लगती है तो सारे वन को जला देती है। उस आग की लपेट से न वृक्ष बचते हैं, न पौधे, न पशु और न पक्षी। मृग भी उसमें जल मरते हैं और सिंह भी उसमें भस्म हो जाते हैं। पत्थर तक चटक जाते हैं। यह दावानल कैसे उत्पन्न होता है? बांस या उस जैसे वृक्ष वायु से आन्दोलित होकर, हिल-जुलकर एक दूसरे से टकराते हैं, उनकी पारस्परिक टक्कर से, रगड़ से आग पैदा होती है। वह आग पहले उन्हींको भस्म करती है जिनसे उत्पन्न होती है। और फिर वह सारे जंगल में फैल जाती है। जंगल की आग मनुष्य के प्रयत्न से बुझनी लगभग असम्भव है, वह तो वृष्टि से बुझ सकती है। वृष्टि बादलों से आती है। बादल दूर, बहुत दूर होते हैं। कारीरि-वृष्टि के द्वारा बादल बरसाए जा सकते हैं, या प्रभु की कृपा हो, 'तब' बादल बरसें। यही अवस्था ईर्ष्या की है। जिसमें यह उत्पन्न हो, पहले उसी का नाश करती है। इसका नाश करना सरल नहीं है। यह विचार-वारि (विवेकजल) से ही शान्त-हो सकती है। जसे जंगल की आग (दावानल) का बुझाने में समर्थ बादल दूर होते हैं, अर्थात् कठिनता से प्राप्त हैं, ऐसे ही विवेक-जल भी मिलना कठिन होता है। तभी वेद में कहा गया है—

दूरात्वा मन्य उद्भृतम्।

'हे मन्यो! बड़ी कठिनता से तुझे प्राप्त किया, पाला-पोसा है।'

विचार, विवेक, मन्यु सत्संगति से प्राप्त हो सकता है। जो मनुष्य विश्वजनीन हैं, जिन्होंने अपना सब कुछ लोकोपकार में लगा रखा है, और जो ओछे नहीं, उथले नहीं, वरन् सागर से भी अधिक गंभीर हैं, जिनके हृदय में करुणा का समुद्र बहता है, संसार के दुःखी-जनों को देखकर जो यह कह उठते हैं—प्रभो! ये सारे दुःख, कष्ट, क्लेश

मयि सन्तु मुच्यतां तु लोकः ।

'मुझ में हों, संसार का इनसे छुटकारा हो जाए।'
उन नररत्नों की सत्संगति और कृपा से विचार-रत्न प्राप्त होता है।

किसी कवि ने कहा भी है—

सतां संगो हि भेषजम्। 'सज्जनों की संगति सचमुच दवा है।'

वेद भी सज्जनों के संग उत्पन्न होनेवाले विचार को भेषजम् (औषधि) बताता है।

हाँ, यह औषधि प्राप्त बहुत कठिनता से होती है। वेद ने कहा है—
दूरात्—बहुत कठिनता से।

किसी कवि ने इस बात को इस तरह कहा है—

भाग्योदयेन बहुजन्मार्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥

'अनेक जन्म का कमाया भाग्य जब उदय होता है, तब कहीं मनुष्य को सत्संगति प्राप्त होती है। सत्संगति से मनुष्य का अज्ञान नष्ट होता है, उससे मोहादि दोष दूर होते हैं, और विवेक मिलता है।'

सत्पुरुषों के सत्संग से मनुष्य को अपने दोषों का ज्ञान होता है। वही ज्ञान ही विवेक है। वही देखता है—यह महात्मा सदा प्रसन्न रहते हैं, किन्तु मुझ में प्रसन्नता का नाम नहीं। तब वह सोचने लगता है। सोच-विचार से उसे निश्चय होता है—यह तो दूसरों के हित में अपनी सारी सामर्थ्य लगाते हैं। सारी

शक्ति ये दूसरों की उन्नति में लगाते हैं। और मैं—मैं दूसरों की अवनति में मस्तिष्क लगाता हूँ। वह अनुभव करता है कि यह तो—

अग्नेरिव दहतः। 'जलाने वाली आग के समान है।'

पत्थर में आग है, जल में आग है, लकड़ी में आग है। सर्वत्र आग है, किन्तु वह प्रसुप्त है, चुप है। किसी को नहीं जलाती। किन्तु आग का संसर्ग पाकर लकड़ी आदि की आग जल उठती है। ईर्ष्या भी तद्वत् छूत का रोग है। ईर्ष्यालु मनुष्य दूसरों में ईर्ष्या के भाव उत्पन्न कर देता है। फिर तो यह दावानल की भाँति दूर तक फैल जाती है। अर्थात् समाज के लिए ईर्ष्यालु ऐसा है, जैसे जंगल में आग लगानेवाला।

किन्तु स्मरण रखिए, वह घृणा का पात्र नहीं है। रोगी से घृणा करना पाप है। ईर्ष्या रोग है, ईर्ष्यालु रोगी है। रोगी को दवाई दी जाती है। उससे घृणा नहीं की जाती। इस प्रकार विवेक-जल से ईर्ष्या-अग्नि को शान्त करना चाहिए और विवेक प्राप्त करने के लिये सर्वहितकारी सन्मनुष्यों का संग, ऋषिमुनि, परोपकारी महामनुष्यों के रचे सद्ग्रन्थों का श्रवण, पठन, मनन, चिन्तत करना चाहिये। इसमें आलस्य या प्रमाद के कारण अन्तर (नाग़ा) नहीं पड़ने देना चाहिये। निरन्तर सद्ग्रन्थों के पढ़ने, लगातार महामनुष्यों का संग करने से उत्पन्न होकर दृढ़ हुआ विवेक-जल ईर्ष्यादि सब दूषण-अग्नियों को शान्त कर देता है। इस विवेक-जल का अद्भुत गुण है, वह यह कि यदि इसका उचित रूप से संचार किया जाए तो ईर्ष्याग्नि को उत्पन्न ही नहीं होने देगा। अतः पूर्ण प्रयत्न से इस विवेक-जल का संकलन करना चाहिए।

❀ गन्दगी मौत है ❀

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा
त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्ति
द्राघीय आयुः प्रतरं दधामि ॥

अ० ८ । २ । २ ॥

जीवतां-जीवितों के ।
ज्योतिः-प्रकाश को ।
अर्वाङ्-सामने होकर ।
अभि-उद्योग से ।
आ इहि-प्राप्तकर ।
त्वा-तुझको ।
शतशारदाय-सौ वर्षों के लिए ।
आ हरामि-चलाता हूँ, लाता हूँ ।

अशस्तिम्-अप्रशस्तता (गन्दगी रूपी) ।
मृत्युपाशान्-मौत के फन्दों को ।
अवमुञ्चन-दूर करके ।
ते प्रतरम्-तुझे बहुत बड़ी ।
द्राघीयः आयुः-लम्बी आयु ।
दधामि-देता हूँ ।

दीर्घ आयु की प्राप्ति की चर्चा वेद में बहुत है । शीघ्र मरना, अल्पायु में संसार से चल देना, वेद को अनभिमत है । वेद में बार-बार दीर्घायु प्राप्त करने, तथा उसके साधनों को बरतने का उपदेश है । वेद में मनुष्य की साधारण आयु सौ वर्ष बतलाई गई है । इसी मन्त्र में ही देखिए । भगवान् आदेश करते हैं—

आ त्वा हरामि शतशारदाय ।

'मैं तुझे इस जगत् में सौ वर्ष के लिए लाता हूँ।'

आजकल एक प्रवाद चल पड़ा है कि दीर्घ जीवन लेकर क्या करना है! लम्बा जीवन लोगों को दुःखदायी जँचता है, किन्तु यह निराशापूर्ण भावना वेदविरुद्ध है, वेद में तो सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करने का उपदेश है। यथा—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः॥ य० ४०। २

'मनुष्य इस संसार में कर्म ही करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।'

'जिजीविषेत्' 'जीने की इच्छा करे' का उपदेश है। 'मरने की इच्छा करे—मुमूर्षेत्' ऐसा उपदेश वेद में कहीं नहीं है।

हां! एक बात पर बल दिया है कि कर्म(सत्कर्म) करता हुआ जीने की, सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।

आज का मनुष्य, विशेषकर भारत का मनुष्य और वह भी वैदिक धर्माभिमानी पच्चास वर्ष की अवस्था में ही अपने आपको बूढ़ा मानने लग जाता है। यह भाव वेदविरुद्ध है। वेद कहता है यदि सौ वर्ष की स्वाभाविक दीर्घ आयु प्राप्त करने की इच्छा है तो—

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ्।

'सामने होकर जीवितों के प्रकाश को प्राप्त कर।'

जो मर गए, सो मर गए, उनका क्या चिन्तन और क्या स्मरण? वे अब हमारा कुछ नहीं बना सकते। बनाना-बिगाड़ना जीवितों का कार्य है, अतः सामने आ और जीते-जागतों से प्रकाश ले। देख, जीवितों ने कैसे ज्योति प्राप्त की, तू भी वैसा कर और दीर्घायु प्राप्त कर।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ्—उपदेश केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं है, प्रत्युत जातियों के लिए भी उतना ही उपादेय है। उन्नति

की कामना करनेवाली जाति को मृत, पराजित, संसार से विलुप्त जातियों को आदर्श नहीं बनाना चाहिए, वरन् जीवित-जागृत, उन्नति-पथ पर आरूढ़ होकर अग्रसर होनेवाली जातियों को सामने रखना चाहिए। यह है भी स्वाभाविक। देखिए, बालक अपने बड़ों की—जीवित बड़ों की अनुकृति (नक़ल) करता है। यह किसी मरे की कल्पना भी नहीं कर सकता। अतः वेद कहता है—

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङ् ।

आयु को घटानेवाले पदार्थ रोग, शोक आदि हैं। रोग (शारीरिक रोग) शरीर को गन्दा रखने से उत्पन्न होते हैं। शोक आदि मानसिक रोग मन की मलिनता से ही होते हैं। जो रोग-शोक से (शारीरिक और मानसिक व्याधियों से) बचना चाहे, उसे शारीरिक तथा मानसिक मलिनता दूर करनी चाहिए। इसी भाव को वेद में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

'गन्दगी रूपी मृत्यु के फन्दों को छोड़ो।'

अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिम् ।

दूसरे शब्दों में कहें तो गन्दगी मौत है। मौत से सभी बचना चाहते हैं। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है—

सर्वेषां प्राणिनामियमात्माशीः, नाहं न भूयासम् ।

'सब प्राणियों की यह कामना होती है कि हम न मरें।'

किन्तु मृत्यु के पाश को सभी गले से लगाए रहते हैं।

वेद में उपदेश है—

अश्मा भवतु ते तनूः = 'तेरा शरीर पत्थर के समान हो।'

पत्थर समान शरीर तो साफ़ सुथरा-रखने से ही होगा, उत्तम भोजन, नियमित व्यायाम, योग्य प्राणायाम के अनुष्ठान से होगा। युक्त आहार का महात्म्य किसी महात्मा ने इस प्रकार कहा है—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

'उचित आहार, विहार, वाले, कर्म्मों को उचित रीति से करनेवाले और नियमित सोने-जागनेवाले का योग दुःख-नाशक होता है।'

अर्थात् जब योगी के लिए भी आहार-विहार आदि की नियमितता आवश्यक है तब साधारण जनों का क्या कहना ?

व्यायाम की महिमा चरक ने इस प्रकार कही है—

व्यायामक्षुण्णगात्रस्यायुस्तेजो यशो बलम् ।
प्रवर्धन्ते मनुष्यस्य तस्माद् व्यायाममाचरेत् ॥

व्यायाम से सधे शरीरवाले मनुष्य की आयु, तेज, यश और शक्ति बढ़ते हैं। अतः मनुष्य को व्यायाम करना चाहिए।

किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। प्राणायाम के सम्बन्ध में मनु जी कहते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

जैसे सोने आदि धातुओं के मल धौंकने से जल जाते हैं, वैसे ही प्राण के निग्रह (प्राणायाम के अभ्यास) से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने अनुभव का इस प्रकार वर्णन किया है—

"प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ से बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी

शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल ही में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।''

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

लोहा जो पत्थर को भी काट देता है, जंग लगने से नष्ट होजाता है, अतः पत्थर समान शरीर की कामना करनेवालों को चाहिए कि वे व्यभिचार, मलिनता आदि को तत्काल त्याग दें। वे सदा स्मरण रखें कि अशस्ति (गन्दगी) मृत्यु है, मृत्युपाश है।

आत्मोन्नति के अभिलाषियों को काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार आदि दुर्व्यसनों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। आत्मा का उद्धार इनका त्याग किए बिना हो नहीं सकता। कठोपनिषद् में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ १।२।२३

'जो दुराचार से नहीं हटा, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुईं, जो सावधान नहीं, और अतः जिनका मन अशान्त है, वह कितना ही पण्डित क्यों न हो, इस आत्मतत्व को नहीं पा सकता।'

वेद में कहा है—

अत्राजहीमो अशिवा येऽअसन्। य० ३५। १०

'जो गन्दगियाँ हैं, उन्हें यहीं और अभी छोड़ें।'

अतः शारीरिक आयु की दीर्घता को चाहनेवाले एवं आत्मिक जीवन के अभिलाषी जनों को अशस्ति (गन्दगी) का त्याग करना चाहिए। इसका त्याग करने से अवश्य ही आयु दीर्घ होगी, क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है—

द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि। तुझे बहुत लम्बी आयु देता हूँ।'

दुष्कर्म्मा ऋतमार्ग को पार नहीं कर सकता

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरन्
श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः ।
अपानक्षासो बधिरा अहासत
ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥
ऋ० ६ । ७३ । ६ ॥

ये—जो।
प्रत्नात् मानात्—पुराने प्रमाण से।
अधि आ सम्+अस्वरन्-अधिकारपूर्वक सब ओर भली प्रकार गति करते हैं।
श्लोकयन्त्रासः—(वे) वेदयन्त्र-वाले, वेदानुगामी जन।
रभसस्य—सर्वशक्तिमान् आरंभ कर्त्ता के।
मन्तव—मानने वाले हैं।
अनक्षासः—आँखों से रहित।
बधिरा—बहिरे लोग।
अप अहासत—[उस सृष्टिकर्त्ता को] त्याग देते हैं।
दुष्कृतः—[अतएव वे] दुष्कर्मा, बुरे कर्मों वाले।
ऋतस्य पन्थाम्-ऋत के मार्ग को।
न तरन्ति—पार नहीं कर पाते।

ईश्वरभक्त कौन है ? क्या वह, जो सदा सर्वदा प्रभु के किसी नाम का जप करता रहता है ? वेद तो भक्त कहे जाने वाले, ईश्वर के मानने वाले, आस्तिक पदवीधारी के जीवन-व्यवहार में, परमेश्वर को देखने की बात कहता है। यदि भक्तनामधारी मनुष्य की वाणी पर भगवान् का नाम विराजमान है, किन्तु उसके जीवन में प्रभु

दृष्टिगोचर नहीं होते, उसका आचार-व्यवहार प्रभुसत्ता का प्रमाण उपस्थित नहीं करता, तो इतना मानना पड़ेगा कि वाणी और कर्म का मेल नहीं। वेद, वाक् और कर्म्म के मेल का आदेश करता है। जैसे—

अक्रन् कर्म्म कर्म्मकृतः सह वाचा मयोभुवा (यजु०)

'कर्म्मठ लोग कल्याणमयी वाणी के साथ सत्कर्म्म करते हैं।' अर्थात् वैदिक कर्म्मयोगी की वाणी और क्रिया में विरोध नहीं होता। किन्तु यह कब संभव हो सकता है ? जब मनुष्य भगवान् के आदेशानुसार जीवन बनाए। दृष्टान्त से समझने का यत्न कीजिये। एक पिता के तीन पुत्र हैं। उनमें से दो अपने को पिता का भक्त कहते हैं। एक सारा दिन 'पिता जी, पिता जी' की रटन्त करता रहता है। पिता यदि कोई कार्य बताए भी तो वह 'पिता जी' उच्चारने के अतिरिक्त कुछ न करे। और दूसरा मुख से 'पिता जी' आदि कुछ न कहे, किन्तु पिता के प्रत्येक आदेश को सावधान होकर पूरा करे। बताइए, दोनों में से कौन अच्छा है ? सुतरां कहना पड़ता है कि जो नाम भले ही न ले, किन्तु आज्ञा-पालन करे। इन दोनों से तो वह अवश्यमेव ही उत्तम होगा, जो पिता का नाम-कीर्त्तन गुण-गणगान भी करे और आज्ञा भी पाले। इसी भाँति जो भक्त केवल नाम उच्चारण करता है उसकी अपेक्षा वह उत्तमतर है, जो प्रभु के आदेशपालन में अपनी सारी शक्ति लगा देता है, किन्तु प्रभुनाम का कीर्त्तन करने के साथ भगवान् के आदेश का पालन करनेवाला उन दोनों से अत्यन्त उत्तम है।

परन्तु प्रभु का आदेश जानने का उपाय ?

स्वयं प्रभु का कथन।

प्रभु का कथन कौन सा है ?

वेद ।

स्वयं वेद में वेद को भगवान् की देन बतलाया गया है—

देवत्तं ब्रह्म गायत । [ऋ० १.]

'भगवान् के दिए वेद को गाओ ।'

इसी आशय को लेकर मनु महाराज ने कहा है—

धर्म्मतत्वजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥२॥

'धर्म्म (कर्त्तव्य) का तत्व जानने के अभिलाषियों के लिये वेद सबसे बड़ा प्रमाण है ।'

इसी बात को इसी प्रकृत मन्त्र के पहले चरण में कहा गया है—

प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरन् ।

'जो पुराने प्रमाण के अनुसार अधिकारपूर्वक सब ओर उत्तम गति करते हैं ।'

वेद संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है । हमारे तो सभी शास्त्र वेद को अपना मूल मानकर उसकी पुरातनता स्वीकार कर ही रहे हैं । पाश्चात्य लोग भी अब वेद की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता को स्वीकार करने लगे हैं । जैसे बेलजियम देश के विद्वान् मातृलिंग (मैटरलिंक्क) ने 'ग्रेट सीक्रेट' (Great Secret) नामक ग्रन्थ में वेद के सम्बन्ध में लिखा है, कि वेद—

The most authentic echo of the immemorial traditions (स्मरणातीत काल की परम्पराओं में सब से अधिक प्रामाणिक है ।)

वेद के अनुसार आचरण का भाव है अपने-आपको मानो वेदरूपी यन्त्र में जकड़ देना, नियन्त्रण से किसी भी प्रकार बाहर न जाना ।

ऐसे ज्ञानमार्गी 'रभसस्य मन्तवः' आरम्भकर्त्ता के मानने

वाले हैं। 'रभसस्य मन्तवः' में सूक्ष्म संकेत है। भगवान् को आरंभ से (कार्य से) जाना जाता है। कार्य, कर्त्ता के बिना नहीं हो सकता। सृष्टिरूपी महान् आरंभ भगवान् को मानने पर विवश करता है।

जो अभागे भगवान् को और भगवान् के आदेश—वेद—को त्याग देते हैं, वे मानो अंधे और बहिरे हैं। इस रचना को देखते हुए भी नहीं देखते। अन्यथा वे कैसे भगवान् की सत्ता से इन्कार कर सकते हैं?

भगवान् का जिसने त्याग कर दिया, उससे बढ़कर दुष्कर्म करनेवाला कौन हो सकता है? सृष्टिरचना को देखकर भी जो कर्ता को नहीं मानता, वह ऋत का अपलाप करता है। जो ऋत को ही नहीं मानता वह ऋत को तरेगा कैसे? तभी वेद ने कहा—

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।

यदि ऋत को पार करने की इच्छा है, तो भगवान् का त्याग मत करो; भगवान् का मनन करो, चिन्तन करो। उसके आदेश का पालन करो। उसका आदेश पालन करने के लिए वेद का अध्ययन करो। उससे भगवान् का आदेश ज्ञात होगा, उसके अनुसार अपना जीवन बनाओ, तब अवश्य ऋत के मार्ग को पार कर जाओगे।

❀ दूसरों की बुराई करनेवाला अपनी बुराई करता है। ❀

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥

अ० ४ । १८ । ६ ॥

यः—जो ।
चकार—[बुराई] करता है ।
न कर्त्तुं शशाक—वह न कर सका ।
पादम् अंगुरिम्—अपने पाँव [और] अंगुली का ।
शश्रे—नाश करता है ।
अस्मभ्यं—[उसने] हमारे लिए ।
भद्रं चकार—भला किया ।
तु आत्मने—किन्तु अपने लिए ।
सः—उसने ।
तपनम्—सन्ताप, दुःख[किया] ।

संसार में कुछ ऐसे प्राणी भी हैं, जिन्हें दूसरों को दुःख देने का व्यसन-सा होता है। उनका प्रयोजन सिद्ध हो या न हो, वे दूसरों को दुःख देंगे, इससे उनको एक आनन्द आता है। वेद कहता है, ज़रा सावधान होकर देखो तो आपको अनुभव होगा कि बुराई करनेवाला बेचारा बुराई कर नहीं सका। कैसे ? दूसरे की बुराई (अनिष्ट) करने से पूर्व वह बेचारा अपना अनिष्ट कर बैठता है। कर्म करने से पूर्व उसके लिए पहले मन में भाव पैदा होता है। बुरा कर्म करने के लिए मन में बुरा भाव पैदा होगा। अर्थात् बुरा कर्म करने से पूर्व बुरा करनेवाला अपने

मन में बुराई के बीज बो बैठा, अपने मन को बुरा बना बैठा। दूसरे का अनिष्ट तो जब होगा तब होगा, अपना तो हो गया। मानो अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार बैठा। तभी वेद ने कहा—

शश्रे पादमङ्गुरिम्।

'अपने पैर और अंगुलि को नष्ट करता है।'

अथर्व० ४। १८। २। में इस भाव को अधिक स्पष्ट रूप में कहा है—

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।

अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥

'कच्ची बुद्धि से पाप करके जो मनुष्य उसके द्वारा दूसरों की हिंसा करना चाहता है। उसकी बुद्धि जलने लग जाती है, और उसमें अनेक पत्थर पड़कर फट्-फट् करने लगते हैं।'

जब कोई मनुष्य किसी दूसरे को दुःख देने का इरादा करता है, जब तक उसे दुःख दे नहीं लेता, तब तक उसके मन में दुःख-दायिनी बेचैनी रहती है और जब दुःख देने में सफल हो जाता है तब उसे भय सताने लगता है। राजदण्ड का भय और सताये गए से बदले का भय उसे आ घेरते हैं। वेद इन भावों को 'बड़े-बड़े पत्थर' नाम देता है। वेद कहता है जैसे अग्नि में पड़कर पत्थर चट-चट करने लगते हैं और चटक-चटक कर पास ठहरे मनुष्य को हानि पहुंचाते हैं, इसी भांति कच्ची बुद्धि से पाप होता है। उसके कारण वह जलने लगती है, पाप की पूर्वावस्था और पाप करने के बाद की अवस्था मानो पत्थर बनकर उस जलती हुई बुद्धि में पड़ते हैं, और चटक-चटक कर पास में रहने वाले पापकारी आत्मा को ही दुःख देने लगते हैं। शायद इसी का भाव लेकर लोग कहते हैं—

पापी के मारने को पाप महाबली है।

इसी कारण वेद ने कहा है कि पापी दूसरे की हानि चाहता हुआ भी नहीं कर सकता, वरन्

चकार भद्रमस्मभ्यम्।

'उसने हमारे लिए तो भला ही कर दिया।'

मनुष्य को दुःख मिलता है अपने किसी पाप के कारण। जब मुझे कोई दुःख मिले और मैं प्रसन्न मन से उसे सहन कर लूँ और मन में यह भाव धरूँ कि अच्छा हुआ कि कर्म की बही से एक कर्मरेखा तो कटी। उसे मैं समझूँ प्रभु का अनुग्रह। प्रभु मेरे पिता हैं, वह मेरी माता हैं। माता-पिता सन्तान का अमङ्गल कभी नहीं चाहते। वे तो सदा सन्तान का हित चाहते हैं। उस स्नेहमयी जगदम्बा की यह ताड़ना भी मेरे हित के लिये है। करुणाकर पिता का दण्ड-प्रहार भी हम पर करुणा तथा प्यार है। इस तरह विचारने से प्रतीत होता है कि मुझे दुःख देनेवाले ने दुःख देकर मेरा भला किया है।

युधिष्ठिर वन में थे, वहाँ भी दुर्योधन उन्हें दुःख देने का यत्न करता रहता था, किन्तु युधिष्ठिर धैर्य्य रखते थे, वे व्याकुल न होते थे, इससे संसार को युधिष्ठिर की धृति का ज्ञान हुआ, उसके गुणों का प्रकाश हुआ, इस बात को लेकर व्यास मुनि ने युधिष्ठिर से कहा—

प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते।

'तेरे शत्रु तेरे बड़े उपकारी हैं, क्योंकि उन्होंने संसार में तेरी बुद्धि और चरित्र के बल को प्रकाशित किया है।'

इस तरह धैर्य्य से विरोधी के विरोध और उसकी बुराई को सहन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है। इससे हमारा भला ही होता है। अतः वेद ठीक कहता है—

चक्रार भद्रमस्मभ्यम् ।

किन्तु

आत्मने तपनं ।

'अपने लिये तो सन्ताप (जलन) ही करता है ।'

यह दो तरह से होता है । जब दुष्ट देखता है कि मेरे दुर्व्यवहार के कारण अगला विचलित नहीं होता, तब वह और जलता है। इस तरह दूसरों का अनिष्ट करने से अपने लिये जलन ही होती है। दूसरे—उस कर्म का फल भोगना पड़ता है । कहा है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभम् ।

'भला-बुरा कर्म्म अवश्य ही भोगना पड़ता है ।'

बुरे कर्म्म का फल अच्छा हो ही नहीं सकता । एक मुसलमान कवि ने कहा है—

अज़ मकाफ़ाते अमल ग़ाफ़िल मशौ ।

गन्दुम अज़ गन्दुम ब्रिरोयद जौ अज़ जौ ।

'कर्म्मफल से असावधान मत हो । देख, गेहूँ से गेहूँ पैदा होता है और जौ से जौ ।'

अपने लिए बुरे बीज बोकर पापी अपना भविष्य बिगाड़ लेता है; इस वास्ते बुरा कर्म (दूसरे का अनिष्ट), दूसरे के लिए तो अनिष्ट नहीं हो पाता, किन्तु उसके लिए—आत्मने तपनं हो जाता है ।

* पापी का नाश होता है *

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति
न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्त-
मुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥

अ० ८।४।१३

सोमः वा उ-शान्तिदाता प्रभु तो।
वृजिनम्-पापी को।
न हिनोति-नहीं प्रेरता है।
न-[और] ना ही।
मिथुया-झूठ को।
धारयन्तम्—धारण करनेवाले।
क्षत्रियम्-क्षत्रिय को [प्रेरता है।]
रक्षः-[वह] राक्षस को।
हन्ति—मार देता है।
असद्—झूठ।
वदन्तम्-बोलनेवाले को।
आ-सर्वथा।
हन्ति-नष्ट कर देता है।
उभौ-वे दोनों [पापी और झूठे]
इन्द्रस्य-इन्द्र के।
प्रसितौ-बन्धन में।
शयाते-पड़े रहते हैं।

संसार में कई मत (पंथ) ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं कि परमेश्वर ने जिसको पापी बनाया है वह पापी ही रहेगा, जिसको पुण्यात्मा बनाया है, वह धर्मात्मा ही रहेगा। ऐसे मतवादी सोचते नहीं। वे अनजान में परमात्मा पर पक्षपात का दोष लगाते

हैं। प्रश्न होता है, क्यों परमात्मा ने एक को पापी और दूसरे को धर्मात्मा बनाया ? वे तो थे नहीं, और न था कोई उनका पूर्व कर्म। फिर क्यों प्रभु ने—रहीम, रहमान और भगवान् ने—ऐसा अन्याय किया ? इसका कोई समाधान हो ही नहीं सकता। इस सिद्धान्त के मानने से यह मानना पड़ता है कि पाप की प्रेरणा करता है परमात्मा ! **अब्रह्मण्यं ! शान्तं पापम् !!** प्रभु और पाप की प्रेरणा। भगवान् तो **शुद्धमपविद्धम्**। शुद्ध और पाप से अछूते हैं (य०। ४०। ८)। अरे, जो पाप से अछूता है, वह पाप की प्रेरणा करेगा ? सोच ! विचार ! समझ से बोल। प्रभु पर इतना बड़ा लांछन ! मूढ़ ! अविचारक ! बुद्धि को टटोल ! भगवान् पाप की प्रेरणा नहीं करते—

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति।

अरे ! वे तो तुझे पाप से सदा हटाते हैं। जब-जब तेरे मन में पाप की गन्दी भावना पैदा होती है, वे तुझे रोकते हैं। वह जो पाप के विरुद्ध तेरे हृदय में आवाज़-सी आती है, वह तेरी नहीं, तू तो पाप करने पर उतारू हो रहा है, तुझे रोकने के लिए भगवान् बोल रहे हैं। अतः हे प्रमादी ! भगवान् पर पाप प्रेरणा का लांछन मत लगा। पाप को भगवान् मार देते हैं—

हन्ति रक्षः।

जिससे संसार बचना चाहता है। अथवा जिससे बचना चाहिए, उसे रक्षः (राक्षस) कहते हैं। पाप से बढ़कर राक्षस कौन हो सकता है ? इससे स्वयं बचना चाहिए, और बचाना चाहिए सारे संसार को। भगवान् जब अन्तरात्मा में पाप के वर्जन का आदेश करते हैं, मानो वे पाप को मार रहे हैं। किन्तु मनुष्य अपने अज्ञान और भ्रम के कारण उसे जिला देता है। पाप की उत्पत्ति परमेश्वर—अपापविद्ध परमेश्वर—नहीं करता। वरन्

अत्वद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः । अ० ५ । १८ । ३

'जब मनुष्य का आत्मा हार बैठता है, तब इन्द्रियवर्ग विद्रोह कर देता है । उस समय पाप उत्पन्न होता है ।'

पाप की उत्पत्ति का प्रश्न सनातन है । जब से मनुष्य है, तभी से यह प्रश्न सब के मनों और बुद्धियों को मथ रहा है । मनुष्य में मानो, यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी त्रुटि का कारण अपने में न खोजकर अन्यत्र खोजता है । यदि मनुष्य से कभी कोई भलाई हो जाये, तो उसका श्रेय स्वयं ले लेने का यत्न करता है । सर्वत्र कहता फिरता है, देखा, मेरा बुद्धि-वैभव; देखी, मेरे प्रयत्न की प्रवीणता; किन्तु यदि कोई कार्य बिगड़ जाये, तो कहता है 'प्रभु को यही इष्ट था । भगवान् के आगे किसकी चलती है ?' सम्पूर्ण मतवादी पाप की उत्पत्ति का कलङ्क भगवान् पर लगाते हैं । किन्तु वेद ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में बताया कि पाप की उत्पत्ति आत्मा की दुर्बलता से होती है । आत्मा सर्वशक्तिमान् तो है नहीं । यह तो अल्पशक्तिमान् है, अल्पज्ञ है । अपनी अल्पज्ञता तथा अल्पशक्तिमत्ता के कारण आत्मा भूल कर बैठता है । यही भूल कर बैठना पाप है । पाप की इस विवेचना से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कार्य्य करता है, अतः उसका फल भी उसे मिलता है । पाप का प्रेरक यदि कोई अन्य हो तो फल भी उस प्रेरक को मिलना चाहिए । पापोत्पत्ति का ऐसा युक्तिसंगत हेतु वेद और वैदिक ही बता सकते हैं ।

सामान्यतः सभी पापों का वर्जन करके भी झूठ की क्रूरता के कारण उसका पृथक् निर्देश करते हैं—

न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।

'झूठ धारण करनेवाले क्षत्रिय को भी प्रेरणा नहीं करता ।'

परमात्मा तो है ही सत्यस्वरूप, वह असत्य की प्रेरणा करेगा! असम्भव! वेद में असत्य-त्याग का व्रत है—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि । (य० १ । ५)

'मैं इस अनृत (झूठ) को छोड़कर सत्य को प्राप्त करूँ ।'

अपने दोष दूसरों के मत्थे क्यों मढ़ते हो । झूठे को भगवान् मार देते हैं—

हन्त्यामद्वदन्तम् ।

संसार में भी कहावत है—'झूठे पर भगवान् की मार ।' हमारे धर्मशास्त्रों में झूठ को सबसे बड़ा पाप कहा है—

नानृतात्पातकं परम् 'झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं ।'

अतः असत्य का त्याग करना चाहिए ।

किसी को सन्देह हो सकता है कि यहाँ झूठे 'क्षत्रिय' को मारने की बात कही गई है, क्षत्रिय से अन्य लोग भले ही झूठ बोल लें। ऐसी बात नहीं है। क्षत्रिय की ओर संकेत करने का विशेष प्रयोजन है। क्षत्रिय का अर्थ है—क्षतात् त्रायते। चोट से बचाने वाला, पीड़ा से छुड़ानेवाला। क्षत्रिय की सफलता परपीड़ा के दूर करने में है। पीड़ा पाप से होती है। अर्थात् जो मनुष्य समाज को पाप से छुड़ाए, वह क्षत्रिय है। अब जो पाप से छुड़ाने का व्रत लेकर स्वयं पाप में, सबसे बड़े पाप में, मिथ्याचाररूप महापाप में प्रवृत्त हो जाए, वह दूसरों को पाप से कैसे छुड़ाएगा? तात्पर्य यह है कि शासक और उपदेशक यदि झूठ बोलेंगे, तो उनका सर्वथा सत्यानाश हो जायगा। इसी वास्ते वेद ने कहा—

उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ।

'दोनों महाबली इन्द्र के पाश में पड़ते हैं ।'

भगवान् के विधान अटल हैं, उन्हें कोई नहीं तोड़ सकता है। उसके दण्डविधान से बचने के लिए सभी प्रकार के मिथ्याहार, मिथ्योच्चार, मिथ्याचार, मिथ्याव्यवहार से बचना चाहिए। अन्यथा बन्धन उपस्थित है।

———

❀ कर्म का फल कर्त्ता को ❀

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति
न यन्मित्रैः समममान एति।
अनूनं निहितं पात्रं न एतत्
पक्तारं पक्वः पुनराविशाति॥

अ० १२।३।४८

अत्र—इसमें [कर्म्मफल में]
किल्विषं न—कमी नहीं [होती]
न—[और] न [ही]
आधारः अस्ति—सहारा (सिफारिश) है।
न यत्—[और] न [यह] कि
मित्रैः—मित्रों के साथ।
सम+अममानः एति—गति करता हुआ जा सके।

नः एतत्—हमारा यह।
पात्रम्—[कर्मों का] पात्र।
अनूनम्—पूरा, घटी-बढ़ी के बिना
निहितम्—[सुरक्षित] रखा है।
पक्तारं—पकानेवाले को।
पक्वः—पकाया पदार्थ।
पुनः—फिर।
आविशाति—आ मिलता है।

इस मन्त्र में कर्म्मफल का बहुत सुन्दर चित्र खींचा गया है। कर्म्म के फल से बचने के लिए निम्नलिखित कल्पनाएं हो सकती हैं।

१ कर्म्मफल में त्रुटि हो जाती है। २. किसी की सिफ़ारिश से

कर्म्मफल-भोग से बच सकते हैं। ३. मित्रों का पल्ला पकड़कर बच निकलेंगे।

वेद इन सब कल्पनाओं का खण्डन करता है। जो लोग यह कल्पना करते हैं कि कर्म्मफल में किल्बिषं (त्रुटि, गड़बड़) हो सकती है उनको समझाता हुआ वेद कहता है—

न किल्बिषमत्र 'इसमें त्रुटि नहीं हो सकती।'

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। परमात्मा की न्यायव्यवस्था हम देखते हैं कि निम्ब का बीज बोने से निम्ब ही उत्पन्न होता है। आम का बीज डालने से भूमि में से आम ही निकलता है। आज तक इसको कोई नहीं उलट सका और न ही आगे कोई उलट सकेगा। यह अटल व्यवस्था है। यह अटल व्यवस्था कारण-कार्य-भाव की व्यवस्था के सहारे समझी जा सकती है। कर्म–भला या बुरा—कारण है। तदनुसार फल कार्य है। परमेश्वर का नियम सर्वत्र, सब क्षेत्रों में एक-सा है। अतः—

न किल्बिषमत्र। 'इसमें कमी नहीं हो सकती।'

कमी भी किसी कारण से कराएँगे। किसी पहुँचे गुरु की शरण लेंगे; किसी पीर, पैग़म्बर पर ईमान लाएँगे; वह हमारी सिफ़ारिश कर देगा, और हमारे कर्मों के फलभोग से हमें बचा लेगा। ऐसे भोले लोगों पर करुणा करती हुई भगवती श्रुति कहती है—

नाधारो अस्ति। 'कोई आधार या सिफ़ारिश भी नहीं चलती।'

सिफ़ारिश क्यों चले? प्रभु के यहां सिफ़ारिश का क्या काम? यदि सिफ़ारिश चलने लगे, तो धाँधली मच जाए। न्यायव्यवस्था रहे ही न। सिफ़ारिश के भरोसे मनुष्य सत्कर्म्म करेगा ही नहीं। क्योंकि उसे विश्वास है कि ईमान लाने मात्र से सब गुनाह धुल

जाएँगे, पाप मिट जाएँगे। यह सिद्धान्त तो मनुष्यों में पाप की प्रवृत्ति की वृद्धि करनेवाला है। अतः वेद का यह कहना कि—

नाधारो अस्ति। सर्वथा उचित है।

माता-पिता कमाते हैं, सन्तान उस कमाई को खाती है। ऐसे ही हम पुण्यात्माओं के साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखेंगे। उनके साथ हमारा निस्तार हो जाएगा। ऐसे प्रमादी आलसियों को वेद सावधान करता हुआ कहता है -

न यन्मित्रैः सममान एति।

'यह भी सम्भव नहीं कि मित्रों के साथ गति कर सके।'

ईरान देश के किसी विद्वान् ने कहा है—

हक्का कि बअकूबते दोज़ख बराबरस्त।

रफ्तन बपाए मरदीए-हमसाया दर बहिश्त॥

'सचमुच पड़ोसी के पुरुषार्थ से स्वर्ग में जाना नरक की यातना के बराबर है।'

महाभारत में ठीक ही कहा गया है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।

तथा पूर्वकृतं कर्म्म कर्तारमनुगच्छति॥ महा०शा० ७।२२

'हज़ारों गौओं में से जैसे बछड़ा अपनी माँ को जा पकड़ता है, वैसे ही पूर्वकृत-कर्म्म कर्त्ता ही का पीछा करता है।' क्योंकि—

अनूनं निहितं पात्र न एतत्।

'किसी भी बाह्य कारण से हमारे इस कर्म्मफल-पात्र में कोई घटी-बढ़ी नहीं हुई।'

जैसा और जितना हमने इसे भरा है वैसा और उतना ही यह सुरक्षित है। सच्ची बात तो यह है कि मनुष्य अपने ही कर्म्मों से

बँधता और अपने ही कर्मों से छूटता है, कोई अन्य इसे छुड़ा या बँधा नहीं सकता।

व्रजत्यधः प्रयात्युच्चैर्नरः स्वैरैव चेष्टितैः।

'अपनी ही चेष्टाओं से मनुष्य गिरता है और अपने ही पुरुषार्थ से उठता है।' वेद ने ठीक ही कहा है—

पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।

पकानेवाले को पका पदार्थ फिर आ मिलता है। अर्थात् कर्मफल से छुटकारा नहीं मिलता। महाभारत उद्योगपर्व में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस तत्व को समझाया गया। यथा—

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः॥
(४०।१६)

'मरने के पीछे धन किसी और के हाथ लगता है। शरीर अग्नि का भोजन बनता है या पशु-पक्षियों का आहार बनता है। इसके साथ न धन जाता है, न शरीर। साथ जाते हैं केवल दो, एक पुण्य दूसरा पाप।'

अर्थात् परलोकयात्रा में स्वधर्म के सिवाय और कोई भी साथी नहीं होता। तभी वेद में भी कहा गया है—

कृतं स्मर। कर्म को स्मरण कर।

सारांश यह है कि हम जो भी कर्म करते हैं, उनका फल हमें अवश्य मिलेगा, उसमें कोई कमी न होगी। कोई पीर, पैगम्बर, गुरु, सन्त, महन्त आदि हमें कर्मफल भोगने से बचा नहीं सकते। वहाँ किसी की सिफारिश नहीं चलती, और न किसी दोस्त, मित्र,

बन्धु, बान्धव की कमाई के सहारे हम कोई पुण्य फल पा सकते या पापफल से छूट सकते हैं। हमारे कर्मों से भरा पात्र वैसा ही रहता है। जो कोई कुछ पकाता है, वही वह खाता है। हमारे स्वयं भोगने से इनसे छुटकारा मिलता है।

❀ अपनी कमाई का फल खा ❀

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व
स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा ते अन्येन न सन्नशे ॥ य० २३ । १५ ॥

वाजिन्–हे ज्ञान क्रियासंपन्न !
स्वयं तन्वम्-अपने आप शरीर को
कल्पयस्व–समर्थ कर, सफल कर ।
स्वयं यजस्व–स्वयं यज्ञ कर ।
स्वयं जुषस्व—स्वयं प्रीति से सेवन कर
ते महिमा–तेरा महत्व ।
अन्येन न–दूसरे से नहीं ।
सम्+नशे-प्राप्त किया जा सकता ।

वेद स्वावलम्बन का पक्षपाती है। अपने ऊपर भरोसा करने की शिक्षा वेद की मुख्य शिक्षाओं में से एक है। पराश्रित और परमुखापेक्षी, दूसरे के सहारे जीनेवाले में न उत्साह होता है, न साहस। उसे विश्वास ही नहीं होता कि वह कुछ कर भी सकता है। वेद ऐसे हतोत्साह दुर्बल मनवालों को कहता है—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व ।

'हे वाजिन् ! तू स्वयं शरीर को समर्थ कर, सफल कर ।'

जीव को यहाँ 'वाजिन्' कहा गया है। इसका विशेष अभिप्राय है। जीव में चेतनता के कारण ज्ञान तो है, किन्तु ज्ञान क्रिया से युक्त होना चाहिए। कोरा ज्ञानतो बन्धन का, दुःख का, कारण होता है; जैसा कि यजुर्वेद ४०। १२ में कहा गया है—

ततो भूय इव ते तमोय उ विद्यायां रताः ।

'कर्म्ममात्र का अनुष्ठान करनेवालों की अपेक्षा केवल ज्ञान-गपोड़े हाँकनेवाले अधिक अन्धकार में रहते हैं ।'

इस वास्ते जीवन को ज्ञानार्जन के साथ कर्म्मानुष्ठान में सदा तत्पर रहना चाहिए, उसी में उसके जीवन की सफलता है । क्रिया का प्रथम प्रयोग शरीर-साधना में लगना चाहिए, अतः वेद का उपदेश है—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व ।

शरीर को हेय समझकर इसकी सार-संभाल न करना वेद के सर्वथा विपरीत है । वेद में एक स्थान पर आया है—

अश्मा भवतु ते तनू । 'तेरा शरीर पत्थर समान होवे !'

वेद में दूसरे स्थान पर इसके सम्बन्ध में उपदेश है—

अनमीवा स्व क्षेत्रे विराज । 'अपने शरीर में नीरोग होकर विराज ।'

वेद के इस तत्व को सामने रखकर संस्कृत के आचार्य ने कहा—

शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम् । 'धर्म्म का सब से पहला साधन शरीर है ।'

अतः शरीर को स्वस्थ और सबल बनाना प्रत्येक धार्मिक मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है । जो शरीर (शारीरिक स्वास्थ्य) की अवहेलना करता है, वह पापी है ।

शरीर को समर्थ बनाने के साथ इसे सफल बनाने का भी आदेश है । मानव देह की सफलता ज्ञान, तप आदि साधनों द्वारा परमपद की प्राप्ति है ।

शरीर की सफलता प्राप्त करने के बाद के कर्त्तव्य को लक्ष्य में रखकर वेद कहता है—

स्वयं यजस्व। 'स्वयं यज्ञ कर।'

कोई-कोई किराये पर जप आदि अनुष्ठान कराया करते हैं, वे इस 'स्वयं यजस्व' का मनन करें। बात बहुत सीधी है। कर्म की छाप अन्तःकरण में पड़ती हैं, जिसे संस्कार कहते हैं। जो कर्म्म करेगा, संस्कार भी उसी के अन्तःकरण में पड़ेगा। यह तो हो नहीं सकता कि भोजन करे देवदत्त और शरीर पुष्ट हो यज्ञदत्त का ! शरीर उसी का पुष्ट होगा जो भोजन करेगा। अतः संस्कार-जन्य फल भी उसे मिलेगा, जिसने संस्कार का उत्पादक कर्म्म किया है। अतः वेद कहता है—

स्वयं यजस्व।

जीवन का जो रस स्वयं परिश्रम करके खाने में है; वह पराई कमाई पर मौज उड़ाने में नहीं है। पराई कमाई पर रहनेवाले को सदा खटका लगा रहता है। उससे बचने का उपाय है—

स्वयं जुषस्व। 'स्वयं प्रीतिपूर्वक पुरुषार्थ कर।'

यज्ञ को, कर्त्तव्य कर्म्म को करते हुए मन में प्रीति, श्रद्धा, आस्था के भाव रहने चाहिएं। क्योंकि श्रद्धा से शून्य क्रिया सफल नहीं होती ! कहा भी है—

'यदेव श्रद्धया क्रियते तद् बलवत्तरं भवति। 'जो कार्य श्रद्धा से किया जाता है, वह अधिक बलशाली होता है।'

हमारा कार्य्य भी बलशाली हो, अतः हम भी श्रद्धा से कार्य करें।

संसार में जिन्होंने उन्नति की है, उन सबने अपने पुरुषार्थ और तप से की है। दूसरे के साधनों से कोई सिद्धि प्राप्त नहीं

कर सकता। सिद्धि की प्राप्ति के लिए मनुष्य को स्वयं यत्न करना होता है। अपनी बड़ाई अपने हाथों प्राप्त की जाती है। तभी वेद कहता है—

महिमा ते अन्येन न संनशे।

'तेरी बड़ाई दूसरे द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती।'

महाभारत में कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

'अपना उद्धार अपने पुरुषार्थ से करे, अपने आपको मनुष्य गिराए नहीं, क्योंकि मनुष्य अपना आप ही शत्रु और मित्र है।'

इस तत्व को समझकर मनुष्य को पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि अपनी कमाई में मिठास होती है, अतः स्वावलंबन करे। जो उद्यागी होते हैं, भगवान् भी उनके सहायक होते हैं। जैसा कि किसी कवि ने कहा है—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्त्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥

'उद्यम, साहस, धीरज, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम—ये छः गुण जहाँ रहते हैं, वहाँ भगवान् सहायक होता है।'

साधक यदि भगवान् की सहायता चाहे, तो स्वावलंबन करे।

❀ तप और दीक्षा से भलाई ❀

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्
  ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं ।
तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे,
  तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ॥

अ० १६।४१।१

भद्रम् इच्छन्तः-भलाई चाहने वाले ।
स्वर्विदः-सुख-[साधनों] को जाननेवाले ।
ऋषयः-रहस्यवेत्ता महात्मा ।
अग्रे-पहले, सब से पूर्व ।
तपः दीक्षाम्-तप और दीक्षा । को
उप निषेदुः-समीप होकर प्राप्त करते हैं ।
ततः राष्ट्रम्-तब राष्ट्र [और]
बलं च ओजः-बल और ओज= तेज ।
जातम्-उत्पन्न होता है ।
तत् देवाः-तब देव ।
अस्मै उपसन्नमन्तु-इसको समीप आकर प्रणाम करते हैं ।

जब तक किसी पदार्थ की इच्छा न की जाए, तब तक उस पदार्थ का मिलना अत्यन्त कठिन है । जब उसकी अभिलाषा ही नहीं, तब वह क्यों मिले ? इस वास्ते वेद ने कहा—

भद्रमिच्छन्तः । भद्र' को चाहते हुए ।

'भद्र' भलाई कैसी ?

वेद कहता है—

सर्वन्तद्भद्रं यदवन्ति देवाः

'वह सब भला है, जिसे देव पसन्द करते हैं।'

पीछे किसी मन्त्र की व्याख्या में बताया जा चुका है कि निष्काम ज्ञानी परोपकारी महात्मा को वेद की भाषा में 'देव' कहते हैं। परोपकारप्रिय स्वार्थरहित महात्मा जिसे पसन्द करें, उसके 'भद्र' होने में सन्देह ही क्या ?

इच्छा से, संकल्पमात्र से कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाया करती, वरन् उसकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान भी आवश्यक है। साधनों के ज्ञान के बिना मनुष्य इधर-उधर ठोकरें खाता है, अतः वेद ने कहा—

स्वर्विदः='सुख [साधनों] को जाननेवाले' मनुष्य के अन्दर इच्छा हो और उसके साथ हो इच्छापूर्ति के साधनों का ज्ञान, तब मनुष्य की इच्छापूर्ति में देर नहीं लगती, विलम्ब नहीं होता। इस रहस्य के जाननेवाले ऋषियों ने पहले तप और दीक्षा को अपनाया।

चिन्तादिशून्य होकर भूख-प्यास, सुःख-दुःखादि परस्परविरोधी द्वन्द्वों को सहने का नाम तप है। ऋ० ९।८३।१ में कहा है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।

जिसने शरीर को तप से नहीं तपाया, वह उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् आम(सुख स्वर) का एक साधन तप भी है। वेद में दूसरे स्थान पर कहा है—

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

ऋ० १०।१५४।२

जो तप के कारण अधृष्य [किसी से न दबनेवाले] हुए हैं, जिन्होंने तप के द्वारा स्वर (सुख) प्राप्त किया है, जिन्होंने [निष्काम

भाव से] तप किया है। उन्हें ही महः तेज, महत्ता, पूजा प्राप्त होती है।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि तप 'स्वः' (सुख) का साधन है। 'स्वर्विद्' सुखप्राप्ति के साधनों को जाननेवाले अवश्य ही तप का अनुष्ठान करेंगे। मनुजी ने इसी आशय को लेकर कहा है—

तपसा किल्विषं हन्ति। (अ० १२)

'तप के द्वारा दोषों का नाश करता है।'

दोषों के रहते सुख मिलना असंभव है। इसी कारण पतञ्जलि मुनि ने योगदर्शन (२ । ४३) में कहा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः

'तप के द्वारा अशुद्धि का नाश होता है और उससे शरीर तथा इन्द्रियों में सिद्धि आती है।'

भाव यह कि शरीर, इन्द्रिय, आत्मा को सुख देने के लिए तप अत्यन्त आवश्यक है।

किसी कार्य में प्राणपण से सिरधड़ की बाजी लगाकर जुट जाने का नाम दीक्षा है।

तप और दीक्षा का फल है—

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्।

'तप और दीक्षा से राष्ट्र, शक्ति और तेज उत्पन्न होता है।'

जो अपने जीवन को राष्ट्रहित के लिए जोखिम में डालता है, राष्ट्र भी उसका मान करता है, उसके अनुकूल चलता है। राष्ट्र की अनुकूलता से उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है। शक्ति के साथ तेज की प्रचण्डता भी बढ़ती है। साधारण लोगों की क्या बात, बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी देव भी उसकी ओर झुकते हैं—

तस्मै देवा उपसन्नमन्तु।

भारवि कवि ने व्यास के मुख से कहलवाया है—

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता ।

'जो योग्य हैं, उन पर तो वीतराग जीवन्मुक्तों का भी प्रेम हुआ करता है ।'

तप और दीक्षा की यह महिमा है कि तपस्वी दीक्षित के पास बड़े-बड़े महापुरुष स्वयं खिंचे चले आते हैं। श्रेष्ठ और दिव्यगुण तपस्वी साथ में रहने से अपनी सफलता मानते हैं।

अतः जिन्हें आत्महित की कामना हो, उन्हें पहले हित और अहित का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि हमारे लक्ष्य का साधन क्या है ? अपने लक्ष्य के साधन को जान कर उसमें लग जाएं। विघ्न-बाधाओं को दूर भगाते हुए आगे बढ़ते चले जाएं। विघ्न-बाधा के भय से, अथवा विघ्नों के आने पर कार्य्य छोड़ें नहीं। विघ्न-बाधाओं के आने पर कार्य्य छोड़ देना कायरों का कार्य है। क्योंकि—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।

'उत्तमजन विघ्नों से बार-बार ताड़ित होने पर भी आरम्भ किए कार्य को बीच में नहीं छोड़ा करते ।'

ऐसे पुरुषार्थी मनुष्य की अनुकूलता सभी करने लगते हैं।

———

❀ परस्पर प्रेमव्यवहार ❀

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योअन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

अ० ३।३०।१॥

वः–तुम्हारे लिये।
सहृदयम्–सहृदयता, एकचित्तता,
सांमनस्यम्–एकमनस्कता, एकविचार।
अविद्वेषम्–[तथा] पारस्परिक प्रेम, निर्वैरता को,
कृणोमि–[विहित] करता हूँ।
अन्योअन्यम्–एक-दूसरे को ।
अभिहर्यत–[ऐसा] चाहो, प्रेम करो।
इव जातम्–जैसे [नए] उत्पन्न।
वत्सम्–अघ्न्या–बछड़े को गौ।

भगवान् आदेश करते हैं—हे मनुष्यो ! मेरा आदेश तो तुम्हारे लिए यह है कि तुम एक-दूसरे से विद्वेष, विरोध, वैर करना छोड़ दो, परस्पर प्रेम और प्रीति से व्यवहार करो।

मनुष्यों में परस्पर प्रीति क्यों नहीं होती ?

प्रीति कैसे हो ? प्रीति की रीति-नीति न्यारी है। जिनके दिल एक नहीं, जिनके चित्तों की भावनाएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें प्रीति कैसे हो सकती है ? प्रेम चित्त की सूक्ष्म भावनाओं में से एक है। जब चित्तधाराएँ विरुद्ध दिशाओं में बह रही हों तब कैसे अनुराग हो सकता है ? जब मन एक-सा न सोचते हों, तब आपस में सम्बन्ध कैसे हो ! अतः वेद का आदेश है कि अविद्वेष से पूर्व

'सहृदय' और 'सांमनस्य' (एकचित्तता) और एकमनस्कता का सम्पादन करना आवश्यक है।

प्रीति-सम्पादन करने की इच्छावालों को अपने दिल और दिमाग को प्रीतिभाजन के अनुकूल करना पड़ता है। वेद ने इस तत्त्व को अ० ३।३०।२,३ में इस प्रकार प्रकट किया है —

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवाम् ॥

'पुत्र पिता के व्रत(धर्माचरणादि) के अनुकूल व्रत वाला हो, सन्तान का मन माता के मन के साथ मिला हो, पत्नी पति से शान्तिदायक मीठी वाणी बोले।'

वेद ने घरेलू दृष्टान्त से 'सहृदय सांमनस्य' की बात समझा दी है। दिल-दिमाग, मन-चित्त तभी दूसरे के अनुकूल हो सकते हैं, जब दोनों का कोई एक व्रत हो। परस्पर प्रीति-सम्पादन के लिए मधुर वाणी बोलनी चाहिए।

'सहृदयं'—मन्त्र में 'प्रीतिम्' के स्थान में 'अविद्वेषम्' पद का प्रयोग करने में विशेष हेतु है। प्रीति से पूर्व अवस्था वैर-त्याग की है। उसके बिना प्रीति का होना लगभग असम्भव है। इसलिए अविद्वेषम् (विद्वेषाभाव) निर्वैरता का आदेश किया गया है।

'सहृदयता और सांमनस्कता' को सब सद्गुणों का मूल माना जाता है और उनका मूल है 'अविद्वेष' अर्थात् अहिंसा। इसी कारण योगदर्शन में अहिंसा को यमों में सबसे पहला स्थान दिया गया है।

संसार में माता-पिता सन्तान से प्रेम करते हैं, उन्हें सम्भावना होती है कि सन्तान से बुढ़ापे में सुख मिलेगा। इसी प्रकार सन्तान का भी माता-पिता से प्यार स्वार्थमूलक होता है। स्वार्थमूलक प्यार आज टूटा कि कल! स्वार्थसिद्धि में विघ्न पड़ा, और प्यार

का संहार हो गया। स्वार्थ न रहा, प्यार भी पार हो गया। स्वार्थ-मूलक प्रीति का अन्त कभी-कभी भयंकर द्वेष में हुआ करता है। वेद कहता है कि प्यार स्वार्थरहित हो।

अन्योअन्यं अभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

'एक दूसरे से ऐसा प्रेम करो, जैसा गौ अपने नवजात बछड़े से करती है।'

गौ बछड़े को प्यार करती है किन्तु किसी बदले (प्रत्युपकार) प्राप्त करने की भावना से नहीं। ऐसे ही मनुष्यों को भी निःस्वार्थ प्रेम करना चाहिए।

जिस प्रकार वेद में पिता-पुत्र, सन्तान और माता तथा पति-पत्नी में परस्पर प्रेम का विधान किया गया है, उसी प्रकार भाई-भाई, बहिन-बहिन और भाई-बहिन में प्रेम का भी आदेश किया गया है। जैसे—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

अ० ३।३०।३॥

भाई-भाई और बहिन से, बहिन भी भाई और बहिन से द्वेष न करे, एक चाल और एक उद्देश्यवाले होकर मधुर भावना से परस्पर बोलें।

भाई-भाई का, बहिन-बहिन का, भाई-बहिन का प्रेम भी तब दृढ़ एवं स्थिर रह सकता है, जब उनकी चाल-व्यवहार एक हो, और व्यवहार की एकता व्रत (उद्देश्य, लक्ष्य) की एकता पर निर्भर होती है, अतः परिवार के सभी सदस्यों को सव्रत (समान-व्रत) होना अत्यन्त आवश्यक है। और इससे भी अधिक आवश्यक है परस्पर भली भावना से बोलना। अर्थात् अभद्र भावना से, अशुभ कामना से, बुरे भाव से कभी मत बोलो। अभद्र

भावना से बोलना बहुधा परिवार के नाश का हेतु हुआ करता है।

पारस्परिक प्रेम तथा मधुर भाषण का मूल कारण संज्ञान (समताज्ञान) है; जैसा कि अ० ३। ३०। ४ में कहा गया है—

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वा गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

'जिससे विद्वान् ज्ञानी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते और एक दूसरे से द्वेष नहीं करते, उस संज्ञान(समता) का बोध करानेवाले ब्रह्म (वेद ज्ञान) को तुम्हारे हृदय में हम प्रकाशित करते हैं।'

जब मनुष्य को यह बोध हो जाए कि जैसा आत्मा मुझ में वास करता है, वैसा ही दूसरे में भी, जैसा मुझे सुख-दुःख का अनुभव होता है, वैसा अन्य को भी; तब वह भी ऐसी कोई क्रिया नहीं करेगा, जिससे दूसरे को क्लेश हो।

परिवार छोटा संसार है। यह एक प्रकार की छोटी-सी पाठशाला है। इसमें समता, पारस्परिक प्रेम, मीठा बोलना, निस्वार्थ प्रीति का अभ्यास करना होता है। कुछ थोड़ा-सा दृष्टिकोण को फैलाओ और संसार को परिवार मान लो, और उससे भी वही व्यवहार करो तो कितना सुखमय यह संसार हो जाए। इस भाव को लक्ष्य करके भगवान् ने अ० ३। ३०। ६ में उपदेश किया है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागाः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

तुम्हारी प्रपा (पानी पीने की जगह) एक हो, तुम्हारा खाना एक साथ हो। तुम्हें मैं एक जैसे जुए में जोड़ता हूँ। जैसे रथ के अरे रथ की नाभि का सेवन करते हैं, वैसे तुम ज्ञान और भगवान् का सेवन करो।

आज खान-पान के भेद के कारण छुआछूत के भूत ने संसार को बड़ा दुःखी कर रखा है। यदि संसार में इस वैदिक मर्य्यादा का फिर से प्रचार हो जाए, तो संसार में जो विषमता हो रही है, वह बहुत कुछ नष्ट हो जाए। भोजन की तो क्या बात, वेद तो सब मनुष्यों के जीवन का लक्ष्य भी एक बताता है। जिस प्रकार रथ के पहिये के धुरे के साथ जुड़े अरे एक कार्य साधन करते हैं, इसी प्रकार मनुष्यों को चाहिए कि भगवान् और भगवान् के ज्ञान से अपना सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य-समाज में समता रखने के लिए समान उद्देश्यवाले बनें।

सार यह कि समान उद्देश्य के बिना मानसिक एकता नहीं हो सकती। जब एक उद्देश्य होगा, तब सोचना भी एक ही दिशा में होगा। जब विचार एक से हो जायें, मानसिक दशा एक हो जाये, और यह निश्चय हो जाय कि हमारा सब का लक्ष्य एक है, तब कौन किससे किसलिये द्वेष करेगा? एक लक्ष्य होने के कारण परस्पर सहयोग की वासना उत्पन्न होगी। सहयोग प्रीति का मूल है। सहयोग में विषमता नहीं रहती। मनुष्यों में समानता स्थापित करने में व्रत की एकता आवश्यक है। इसके बिना समता असंभव है। समता लाने के लिये इस वैदिक साधन से अच्छा उपाय दूसरा नहीं है।

❀ भगवत्कृपा से पाप से छुटकारा ❀

इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्।
भद्रं भवाति नः पुरा॥ ऋ० २।४१।११।

इन्द्रः—सकल दुःखविदारक भगवान्।
च नः—यदि हम पर।
मृलयाति—कृपा करे।
पश्चात् नः—[तो] उसके पश्चात् हमें
अघं नः—पाप नहीं।
नशत्—प्राप्त हो सकता।
नः भद्रम्——[वरन्] हमारा भला।
पुरा भवाति—पहले होता है।

मानो पाप की प्रचण्ड पीड़ा से प्रताड़ित मनुष्य का यह आर्त्तनाद है। मनुष्य दुःख से छूटना चाहता है, किन्तु छूट नहीं पाता। दुःख का मूल पाप है। जब तक पाप है तब तक जन्ममरण आदि लगे रहेंगे। योगदर्शन में कहा भी है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

'कर्म्म का मूल जब तक बना है तब तक जन्म, आयु (भोग की अवधि) और भोग (सुख-दुःख की अनुभूति) बराबर लगे रहते हैं।'

जो दुःख बीत गया, वह गया। जो वर्तमान में लग रहा है, वह भोग के ही समाप्त होगा। आनेवाले दुःख का ही प्रतिबन्ध किया जा सकता है। योगदर्शन में भी कहा है—

हेयं दुःखमनागतम् (२)।

'जो दुःख अभी आया नहीं, वही हटाने योग्य है।'

अर्थात् मनुष्य को अतीत के गौरव पर गर्व नहीं करना चाहिए। अतीत की दुःखद स्मृति को भी भुला देना चाहिए। मनु ने भी कहा है—

नात्मानमवसादयेत्पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।

'अपने को पुरानी कमज़ोरियों के कारण दुःखित नहीं रखना चाहिए।' वरन् आने वाले कष्टों की उत्पत्ति को रोकने का कोई यत्न करना चाहिए।

दुःख क्या है ?

बाधनालक्षणं दुःखम् (न्या० द०) 'जिससे पीड़ा हो, वह दुःख है।'

वात्स्यायन ने तो खुलकर कह दिया—'दुःखं जन्म' जन्म लेना ही दुःख है। गर्भ आने से मरने तक कितने दुःख सहने पड़ते हैं ? सभी इससे बचना चाहते हैं, किन्तु बच नहीं पाते। दुःख से बचने का उपाय वेद बतलाता है—

इन्द्रश्च मृळयाति नः। 'यदि प्रभु हम पर कृपा करें।'

किन्तु प्रभुकृपा कैसे मिले ? प्रभुकृपा तो प्रभु के आदेशानुकूल आचरण करने से प्राप्त होगी। प्रभु का मेल प्राप्त किए बिना प्रभुकृपा असम्भव। प्रभु का मेल योगादि साधनों से सम्भव होता है। योगादि साधनों में यम, नियम—दुराचार-त्याग और सदाचार-ग्रहण—पहला साधन है। तभी वेद में प्रार्थना आती है—

परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्व मा सुचरिते भज।

'हे सब की उन्नति करनेवाले ! शुभाशुभ का ज्ञान प्रदान करानेवाले प्रभो ! मुझे दुराचार से रोक और सदाचार में लगा।'

जब इस प्रकार प्रभुकृपा की प्राप्ति के लिये साधक यत्नवान

होगा तब उसे पाप करने के लिए अवकाश कहाँ रहेगा ? प्रभु-दर्शन करके तो मनुष्य की विषयाभिलाषा मिट ही जाती है। किसी ज्ञानी ने कहा है—

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।

'उस सर्वथा रागद्वेषरहित परमानन्द परमात्मा के दर्शन करके इसका रस (विषयाभिलाषा) भी हट जाती है ॥'

पाप का कारण विषयाभिलाषा होती है, जब वही न रही, तो पाप कहाँ से हो ? तभी वेद ने कहा—

न नः पश्चादघं नशत्। 'उसके पश्चात् हमें पाप नहीं व्यापता।'

सचमुच प्रभुदर्शन के पश्चात् पाप नहीं आता। रस की खोज थी, उसके लिए इधर-उधर विषयों में जीव भटक रहा था। अब रसों के रस, परमरस का मेल हो गया है, अन्य सब रस फीके मालूम होने लगे हैं, अतः उनसे विरक्ति भी हो गई है। इस वास्ते पाप से छुटकारा मिल गया है।

कल्याणाभिलाषी को पहले दुरित का निवारण करना चाहिए, भद्र तो अपने-आप प्राप्त हो जाया करता है, विशेष यत्न तो पाप-मोचन में लगता है। पाप से छुटकारा होते ही कल्याण की प्राप्ति सुतरां हो जाती है—

भद्रं भवाति नः पुरा। 'भलाई तो हमारी पहले ही हो जाती है।'

आर्यों की दैनिक-प्रार्थना का पहला मन्त्र भी देखिए, यही बात कह रहा है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

'सब को शुभ प्रेरणा देनेवाले दिव्य देव प्रभो ! ;

दुरितों को हम से दूर कर और जो भद्र है भला है, वह हमें

भलाई प्राप्त करनी है तो बुराई पहले दूर करनी चाहिए। बुराई का नाश किए बिना भलाई का प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। लौकिक उदाहरण से यह बात खुल जाती है। एक पात्र में जल रखा है। हम उसमें दूध डालना चाहते हैं। जब तक उस पात्र से जल बाहर न कर दिया जाए, दूध उसमें नहीं डाला जा सकता। डालने का यदि यत्न करेंगे तो दूध तो बाहर गिरेगा ही, साथ ही जल को कुछ निकालेगा। अतः बुद्धिमान् मनुष्य जल को निकाल-कर दूध को उसमें डालता है। इसी प्रकार कल्याण की कामना करनेवाला पहले अपने दुर्गुण दूर करने की चेष्टा करता है।

संसार में अनेक जन ऐसे हैं जिन्हें अपने दोष दिखाई ही नहीं देते। इसीलिए कहा है—

इन्द्रश्च मृळयाति नः—'भगवान् यदि हम पर कृपा करें!'

सचमुच प्रभु की कृपा से मनुष्यों को अपने दोषों का ज्ञान तथा भान हो पाता है। प्रभुकृपा प्राप्त करने के लिए प्रभु की भक्ति करनी चाहिए। अवश्य उससे दोष दूर होंगे। अनुभवियों के आचार्य पतञ्जलि जी ने कहा है—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (१। २९)

'ईश्वर की अनन्य भक्ति से आत्मा की प्राप्ति तथा विघ्नों का नाश होता है।'

जब तक प्रभु से प्रीति न हो, विषयों से विराग नहीं होता, दुराचार का त्याग नहीं होता। प्रभुप्रीति ने दुःख छुड़ाया, दुखा-भाव ने आनन्द से मिलाया। ध्यान से सोचें तो यहाँ एक बहुत सुन्दर अनुभव में आनेवाली बात वेद ने कही है—पाप छूटने से पूर्व प्रभुप्रीति रूप कल्याण का उदय होता है, और पाप छूटने के बाद मोक्ष रूप कल्याणतम की प्राप्ति होती है। अतः भद्राभिलाषी

को पापत्याग में यत्नवान् होना चाहिए! किसी ने

अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ।

'रात्रि के अन्धकार को उषा के द्वारा नष्ट किए बिना सूर्य भी उदय नहीं होता ।'

अतः आत्मप्रकाशाभिलाषी जन को प्रमादजन्य अन्धकार का अवश्य नाश करना चाहिए ।

❀ ब्रह्मकृपा हि केवलम् ❀

विशं विशं मघवा पर्य्यशायत
जनानां धेना अव चाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति
स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ॥

ऋ० १० । ४३ । ६ ।

मघवा—सर्वकल्याण धनों का स्वामी परमेश्वर ।
विशं + विशम्—प्रत्येक वस्तु में ।
परि + अशायत—पूर्णरूप से व्यापक है ।
वृषा—[वह] सुखपूर्वक प्रभु ।
जनानाम्—मनुष्यों की ।
धेनाः—वाणियों को ।
अव चाकशत्—विकसित करता है ।

यस्य सवनेषु—जिससे सवनों में ।
शक्रः अह—प्रभु ही ।
रण्यति—उपदेश करता है ।
सः—वह ।
तीव्रैः सोमैः—तीव्र सोमों के द्वारा
पृतन्यतः—फ़सादियों को (उपद्रवियों को)
सहते—मसल देता है ।

भगवान् की कृपा का अभिलाषी भगवान् का अनुसन्धान करता है । प्रत्येक पदार्थ में उसे प्रभु के—दर्शन होने लगते हैं । वह अनुभव करता है कि वह कल्याणनिलय अणु-परिमाणु से से लेकर परम, महान् आकाश तक में एकरस विराजमान है । तब उसे यह निश्चय होता है कि मनुष्य में जो बोलने-देखने आदि की

शक्तियाँ हैं, सब उसी की कृपा से विकास पा रही हैं, प्रकाशित हो रही हैं। वह यह निश्चय करके अपने जीवन का मार्गदर्शक, उपदेशक प्रभु को बना लेता है।

यज्ञों में तीन सवन (Session) होते हैं—१. प्रातः सवन, २. माध्यन्दिन सवन और ३. तृतीय सवन। प्रातः सवन में गायत्री छन्दों का, माध्यन्दिन सवन में त्रिष्टुप्छन्दों का और तृतीय सवन में जगती छन्दों का प्रयोग किया जाता है। गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों का होता है, त्रिष्टुप् चवालीस का और जगती अड़तालीस का। यज्ञों की इस रीति का आधार मनुष्य-जीवन है। इस वास्ते उपनिषद् में जीवन के तीन कालों, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, और त्याग की अवस्थाओं को तीन सवन कहा गया है। यथा—

"पुरुषो वाव यज्ञः, तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातःसवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातः सवनं,.........॥१॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं...।३॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनम्, अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती, जागतं तृतीयसवनम्.........॥५॥ [छा० उ० ३।१६]

मनुष्य-जीवन यज्ञ है। उसके पहले चौबीस वर्ष प्रातः सवन हैं, गायत्री के चौबीस अक्षर होते हैं। प्रातः सवन गायत्री का है। जो अगले चवालीस वर्ष हैं, वह माध्यन्दिन सवन हैं। चवालीस अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द होता है। माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुप् का है। जो अगले अड़तालीस वर्ष हैं, वह तृतीयसवन हैं,

अड़तालीस अक्षरों का जगती छन्द होता है। तृतीयसवन जगती छन्द का है।

यज्ञ का एक नियम है कि यज्ञानुष्ठान के समय में मानुषी वाणी नहीं बोलनी चाहिए वरन् वैष्णवी वाणी का व्यवहार करना चाहिए। अर्थात् यज्ञ करते समय वैष्णवी (यज्ञीय, परमात्म-सम्बन्धी) वाणी का व्यवहार करना चाहिए। जीवन को जब यज्ञ बना लिया, तब यज्ञ के नियमानुसार चलना चाहिए। यज्ञ में संयम (तप) करना होता है, अनृत (झूठ) का त्याग करना होता है। जीवन-यज्ञ के तीनों सवनों—ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ और त्याग[1] में सदाचार—श्रेष्ठाचार से व्यवहार करना चाहिए।

यज्ञ के तीन सवनों में देवाताओं का भेद है। किन्तु वेद कहता है—

यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैँः सोमैः सहते पृतन्यतः

जिसके सब सवनों में शक्र ही उपदेश करता है, वह तीव्र सोमों के द्वारा शत्रुओं को मसल देता है।

अर्थात् जीवन-यज्ञ में देवता एक ही हो, और वह शक्र। शक्र का अर्थ है शक्तिशाली प्रभु, शक्तिदाता, शक्ति और आनन्द से युक्त परमात्मा, शक्तिमान् भगवान्। जिसका मार्गदर्शक, उपदेशक स्वयं भगवान् हो, उनके मार्ग में कोई बाधा रह ही नहीं सकती। योगदर्शन में ईश्वरप्रणिधान का फल बतलाते हुए कहा है—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

---

१ वानप्रस्थ में घर छोड़कर त्याग का अभ्यास करना होता है, संन्यास तो है ही त्याग। दोनों में त्याग की समता के कारण दोनों को एक सवन माना गया है।

ईश्वरप्रणिधान से आत्मदर्शन होता है और साथ ही होता है विघ्नों का नाश।

योगदर्शन में एक बात अस्पष्ट है, वेद में वह स्पष्ट है। योगदर्शन में यह नहीं बताया गया कि विघ्नों का अभाव कैसे होता है। वेद में बताया कि—

स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यत

'वह तीव्र सोमों के द्वारा उपद्रवों को सहता है।'

भौतिक यज्ञ में भौतिक सोमवल्ली का रस निकालकर पीते हैं। उसके पीने से कायाकल्प हो जाता है, शरीर नया हो जाता है। इस आत्मिक सोमयज्ञ में प्रभुभक्तिरूप सोमरस का, जो बहुत तीव्र होता है, पान करना होता है। आत्मा को कलुषित करनेवाले सब कुभाव नष्ट हो जाते हैं और मानो आत्मा नूतन होकर फिर जवान बन जाता है। इसी भाव को ऋग्वेद १।२७।७ में प्रकारान्तर से यों व्यक्त किया गया है—

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः।
स यन्ता शश्वतीरिषः ।

हे सबके हितसाधक प्रभो! जिस साधक की फितनों में, उपद्रवों में रक्षा करते हो, जिसको वाजों में (ज्ञानादिकों) में प्यार करते हो, वह शाश्वत सुख (मुक्ति) को पाता है।

सचमुच ब्रह्मकृपा केवल (मुक्ति) है। ब्रह्मकृपा को प्राप्त करने के लिए विशेष साधनों के अनुष्ठान की अपेक्षा हुआ करती है। उनमें प्रमुख है प्रभु के आदेश के अनुकूल अपना जीवन बनाना। जिसकी कृपा अपेक्षित होती है, उसके अनुकूल चलना अनिवार्य होता है। अतः प्रभु के आदेश को समझना तथा तदनुकूल चलना अनिवार्य है।

❁ प्रभुकृपा का भागी ❁

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे
मर्त्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने
मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥

०ऋ१।३१।७

अग्ने–सबको आगे ले जाने वाले ! सब की उन्नति करने वाले प्रभो !
यः–जो।
उभयाय जन्मने–दोनों जन्मों [की उत्कृष्टता] के लिए।
तातृषाणः–अत्यन्त अभिलाषी है
तं मर्त्तत्वम्–उस मनुष्य को तू।
उत्तमे–सर्वश्रेष्ठ।
अमृतत्वे–मोक्ष के निमित्त।
दिवे+दिवे–प्रतिदिन।
श्रवसे–स्वाध्याय के लिए।
दधासि–लगा देता है।
च सूरये–और ज्ञानी के लिये।
मयः प्रयः–आनन्द और सुख।
आकृणोषि–सब ओर से करता है

मनुष्य और पशु में विवेकशक्ति के कारण भेद है। अन्यथा खान-पान, निद्रा-मैथुन आदि प्रवृत्तियाँ दोनों में समान हैं। मनुष्य चारों ओर दृष्टि डालता है। वह देखता है कि कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई धनी है, कोई दरिद्र है। कोई सर्वाङ्गसुन्दर है, किसी के अंग ही पूरे नहीं, वरन् वह कुरूप है। इस विषमता से यह चिन्ता में पड़ जाता है। श्रवण, मनन और चिन्तन से उसे

निश्चय होता है कि वह शरीरमात्र नहीं है, मृत्यु उसे शरीर से अतिरिक्त एक चेतन आत्मा का बोध कराती है। उसे प्रतीत होता है कि प्राणियों की यह विषमता इसके अपने कर्म्मों के कारण है। इस तत्त्व का निश्चय होते ही उसे यह भी ज्ञान होने लगता है कि शरीर अवश्य अनित्य है, बाल्य, यौवन और बुढ़ापा ही इसके नाशवान् होने के अकाट्य प्रमाण हैं। शरीर के नाश होने पर भी कोई ऐसा पदार्थ शेष रह जाता है जो इस शरीर से पृथक् है। अन्यथा कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आएंगे। मरने से पूर्व जो भले-बुरे कर्म किए उनका फल मिला नहीं और यह प्राणी चल बसा। किए कर्म्म का फल न मिलना कृतहान कहलाता है। कोई सुखी उत्पन्न हुआ है, कोई दुःखी। आत्मा कोई है नहीं, जिसने पूर्व कोई कर्म किए हों तो यह सुख-दुःख भेद व्यवस्था कैसे संभव है ? किसी कर्म्म के बिना सुख-दुःख मिलना अकृताभ्यागम कहाता है। कृतहान और अकृताभ्यागम को स्वीकार कर लिया जाए तो संसार की कार्य्यकारण-व्यवस्था ही टूट जाए। अतः विवश होकर मानना पड़ता है कि शरीर के अतिरिक्त कोई आत्मा है और वह नित्य है। अर्थात् इस शरीर के मिलने से पूर्व भी वह था। पूर्व के किए कर्म्मों के फलस्वरूप उसे वर्तमान शरीर मिला है। इस शरीर में किए कर्म्मों के फल भोगने के लिए उसे इस शरीर के बाद दूसरा शरीर मिलेगा, क्योंकि यह इस शरीर के पीछे भी बना रहता है। आत्मा के इस तत्त्व का बहुत थोड़ों को ज्ञान होता है। यम ने ठीक ही कहा है—

> श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य
> शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः।
> आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
> ऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
>
> कठो० १।२।७

बहुतों को यह तत्व सुनने को भी नहीं मिलता। अनेक इसे सुनते हुए भी नहीं समझ पाते। इसका उपदेश करनेवाला दुर्लभ है। इसको पा लेनेवाला सचमुच कुशल है, चतुर है। किसी कुशल से शिक्षा पाकर इसका जाननेवाला तो दुर्लभ ही है।

आत्मा की नित्यता और उसके कारण होनेवाले आत्मा के अनेक जन्मों के सिद्धान्त को कोई विरला भाग्यवान् ही जान पाता है। जिसको यह तत्त्व ज्ञात हो जाता है, वह व्याकुल हो उठता है। उसे अपनी वर्तमान दशा तथा भावी दशा से असन्तोष और क्षोभ आ घेरते हैं। वह अपना वर्तमान और भविष्य सुधारना चाहता है, और इसके लिए निरन्तर पुरुषार्थ करता है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में ही मन्त्र कहा गया है—

यस्तातृषाण उभयाय जन्मने।

'जो दोनों जन्मों के [संवारने-सुधारने के] लिए अत्यन्त तृषावान् हैं।'

ऐसा जन मानो व्याकुल हुआ भगवान् से कहता है—

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृठा सुक्षत्र मृठय।

ऋ० ७।८९।४

'जल के बीच में सदा रहनेवाले तेरे भक्त को प्यास ने आ घेरा है। दुःख से बचानेवाले! कृपा कर, दया कर।'

संसार में भगवान् व्यापक है। इसके अन्दर भी है, बाहर भी है। अर्थात् संसार भगवान् में रह रहा है। अतः भक्त का यह समझना ठीक है कि वह भगवान् में रह रहा है। आनन्दकन्द सच्चिदानन्द में रहनेवाले को आनन्द की इच्छा का उत्पन्न होना ऐसा है, जैसा जल में रहनेवाले को जल की इच्छा सताए। जिस मनुष्य में ऐसी तड़प पैदा हो जाए, उसे—

तं त्वमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्त्तं दधासि श्रवसे दिवे-दिवे।

सबकी उन्नति करनेवाला प्रभु उस मनुष्य को सवश्रेष्ठ मोक्षप्राप्ति के निमित्त प्रतिदिन स्वाध्याय (आत्मचिन्तन) में लगा देता है।

दिनरात स्वाध्याय (आत्मानात्म-विवेचन) करने से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, वह सूरि (ज्ञानी) बन जाता है। उस-

मयः कृणोषि प्रय आ न सूरये।

सूरि (विद्वान्) के लिए भगवान् आनन्द और सुख, श्रेय और प्रेय, लौकिक और पारलौकिक सुखों का संविधान कर देता है।

इस मन्त्र में एक सूक्ष्म तत्व की ओर संकेत किया गया है कि जो केवल वर्तमान जन्म के सुधार में लगा है, ऐसा मनुष्य पर-लोक से विमुख होकर स्वार्थपरायण होकर पापाचरण में भी लग सकता है और इस प्रकार अपना अनिष्ट कर सकता है। जो केवल परलोकसाधन में ही लगा है, वर्तमान की उपेक्षा करता है; संभव है वर्तमान की उपेक्षा करने से वह अपने करणों, उपकरणों, देह, इन्द्रियादि की ही हानि कर बैठे, और इस प्रकार परलोक-साधन से भी रह जाए। वेद ने इसलिए दोनों जन्मों के सुधारने की बात कही है। धर्म भी यही है। जैसा कि महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में कहा है—

यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः। (१।१।२)

'जिससे लोकोन्नति और मोक्ष सिद्ध हो उसे धर्म्म कहते हैं।'

अर्थात् केवल परलोकसाधन में लगकर इस लोक की उपेक्षा करनेवाला धार्मिक नहीं है। धार्मिक होने के लिए दोनों जन्मों के संवारने-सुधारने की आवश्यकता है। वैदिक धर्म की इस विशे-

षता को सदा सामने रखकर तदनुसार आचरण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो दोनों उन्नतियों के लिए व्याकुल होकर उनकी प्राप्ति के लिए जी-जान से यत्न करता है, वह प्रभुकृपा का भागी हो सकता है।

———

❀ जहां भगवान् वहां कल्याण ❀

न घ्रंसस्तताप न हिमो जघान
प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः ।
आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति
यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम् ॥

अ० ७ । १८ । २

न घ्रंसः—न गरमी ।
तताप—तपाती हो ।
न हिमः—[और] न सरदी [ही]
जघान—मारती हो ।
जीरदानुः—[तब] जीव की प्रमाणभूत ।
पृथिवी—[शरीररूपी] भूमि ।
प्र नभताम्—उत्तमता से संबद्ध हो सकती है ।
आपः चित्—[जब] जल भी ।
अस्मै—इस [साधक] के लिए ।
घृतम् इत—घी ही ।
क्षरन्ति—बरसाते हैं ।
यत्र सोमः—जहाँ सोम [है] ।
सदम् इत—सदा ही ।
तत्र भद्रम्—वहाँ भला है ।

प्रभुप्राप्ति के लिए सभी शास्त्रकार योगानुष्ठान का उपदेश करते हैं । योग कब और कहाँ करना चाहिए इसका इस मन्त्र में उपदेश किया है कहा है—

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान ।

'न गरमी तपाती हो और न सरदी मारती हो ।'

अर्थात् ऐसे स्थान में बैठो, जहाँ न गरमी अधिक लगे और

न शीत का प्रकोप हो। दिन में दोपहर को गरमी के कोप की सम्भावना और रात्रि को शीत के प्राबल्य की सम्भावना हो सकती है। अतः योगसाधन का समय प्रातः और सायं ही ठीक है। इन दोनों समयों में न गरमी अधिक होती है और न सरदी। लगभग समता-सी होती है। समता प्राप्त करने के लिए समतायुक्त समय ही सम्यक् होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् २। १० में कहा भी है—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते
शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

'समतल, पवित्र, कंकड़-पत्थर, आग-रेत से शून्य, शब्द-जलाश्रयादिसंयुक्त, मन के अनुकूल, आँखों को बुरा न लगनेवाले गुफा और वायुरहित स्थान में योग-साधन करे।'

वेद के 'न घ्रंसस्तताप' की यह व्याख्या है। गरमी हो तब भी मन व्याकुल रहता है, अधिक शीत से भी शरीर ठिठुरता रहता है, दोनों अवस्थाओं में मन एकाग्र नहीं हो सकता। स्थान यदि ऊँचा-नीचा हो, तो आसन ठीक नहीं लग सकता। गन्दे स्थान में मन लगना असम्भव है। कंकड़-पत्थर आदि वाले ठिकाने में अशांति बनी रहती है। रेत शीघ्र ठण्डी और जल्दी तप जाती है, अतः रेतीला स्थान भी उपयुक्त नहीं हो सकता। स्थान सुन्दर और रमणीक होना चाहिए। गुफा आदि, जहाँ हवा के तेज झोंके न लगते हों, योगसाधन के लिए बहुत उपयुक्त हैं। ऐसे सुन्दर स्थान एवं उचित समय में शरीर और मन को इस योग-साधन में लगाना चाहिए। इसका फल बतलाया है—

आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति।

'ऐसे साधक के लिए जल भी घी बरसाने लगता है।'

अर्थात् सामान्य पदार्थ भी उसके लिए उत्तम फलों को उत्पन्न करने लगते हैं। शरीर तो मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश का बना है किन्तु यही जड़ शरीर उसे परमात्मा से मिला देता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् १। १२-१३ में कहा है—

पृथिव्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

'मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश के संयोग से तय्यार हुए इस पञ्चभौतिक शरीर में योगगुण के आरम्भ होने पर साधक को न रोग होता है, न बुढ़ापा और न मौत। जिसने अपने शरीर को योगाग्नि से शुद्ध कर लिया है उसका शरीर हल्का तथा रोगरहित हो जाता है। उसमें विषयलोलुपता नहीं रहती। उसका शारीरिक वर्ण उज्ज्वल हो जाता है और आवाज़ अच्छी हो जाती है। ये योगप्रवृत्ति के आरम्भिक चिह्न हैं।

योगी समता का साधन करता है। रोग विषमता से होता है! अतः समत्व के अभ्यास से रोग और रोग से उत्पन्न होने वाला बुढ़ापा दोनों भाग जाते हैं। योगी के लिए मौत मौत नहीं

रहती, वह तो उसके इस संसार से छुटकारे का साधन बन जाती है। एक सन्त ने कहा है—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।

इस प्रकार योगसाधन से शारीरिक व मानसिक-स्वास्थ्य की सिद्धि होती है।

यह क्यों होता है? वेद इसका उत्तर देता है—

यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम्।

'जहां प्रभु हो, वहां सदा भद्र रहता है।'

योगसाधन से प्रभु का मेल होता है, प्रभु परमकल्याणनिधान हैं। वह सब दोषों, किल्विषों से रहित है। उसकी प्राप्ति के साथ ही किल्विष भाग जाते हैं। दुःख, दारिद्र्य, अमङ्गल, अशिव, अभद्रों का वहाँ क्या काम? जहाँ शान्ति (निरुपद्रवता) होती है, वहाँ ही सभ्यता, सुशिक्षा, विद्या, शिल्प, धर्म्म आदि शुभगुणों की प्रवृत्ति हुआ करती है। भगवान् से बढ़कर शान्तिनिकेतन और कौन है? अतः जिस हृदय में भगवान् होगा अर्थात् जहाँ भगवत्पूजा, परमेश्वर की आज्ञा का पालन होगा—

सदमित्तत्र भद्रम्। 'वहाँ सदा भद्र विराजेगा।'

अतः कल्याणाभिलाषी को सदा प्रभुपूजा करनी चाहिए। योगसाधन के द्वारा सदा अङ्गसङ्ग रहनेवाले भगवान् का साक्षात्कार करके ऐसा यत्न करना चाहिए कि उसकी अनुभूति सदा होती रहे। भगवान् सदा सर्वत्र विद्यमान् रहते हैं किन्तु अज्ञान के कारण अज्ञानीजनों को उसका भान नहीं होता। उन्हें उससे प्राप्त हो सकनेवाला आनन्द भी नहीं मिलता। अतः उसको अपने आत्मा में अनुभव करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

❀ प्रभु के अभिलाषी भोगों में नहीं फँसते ❀

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा
मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो
रथे न पादमादधुः ॥

सा० उ० ८ । २ । ६२ ॥

इमे हि ते—ये ही वे ।
ब्रह्मकृतः—स्तुति करनेवाले हैं ।
सचा—[जो] मिलकर, एक साथ ।
सुते—[परमेश्वर के] रचे ।
मधौ—मधुर आनन्द पर ।
मक्षः न—मक्खियों के समान ।
आसते—बैठते हैं ।
वसूयवः—[ऐसे] वसु—आत्मा को चाहने वाले ।
जरितारः—स्तोता लोग ।
रथे पादम् न—रथ में चरण के सामान ।

इन्द्रे कामम्—परमेश्वर में इच्छा को ।
आदधुः—रखते हैं ।

अथवा

वसूयवः—आत्मधनाभिलाषी ।
जरितारः—स्तोता भक्त ।
कामम्—पूरी तरह ।
इन्द्रे—परमेश्वर में ।
पादम् आदधुः—ठिकाना लगाते हैं ।
न रथे-न कि रमण साधन में ।

प्रभु के भक्त की पहचान है कि उठता, बैठता-चलता-फिरता भी अपने प्रभु में रमता रहता है। संसार के कार्य करता हुआ भी वह कभी परमात्मा से विमुख नहीं होता। उसने अनुभव कर लिया है कि मेरा प्रियतम—

ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु (य० ३२। ८)

'सर्वव्यापक है और सृष्टि में ओत-प्रोत है।'

और कि वह

रसेन तृप्तः [अथर्व० १०। ८। ४४] 'आनन्द से तृप्त है।'

अतः वह समझता है कि समस्त संसार में जो रस है, वह तो उसी रसमय का है। अतः वह सांसारिक पदार्थों से आनन्द की कण-कण भिक्षा न करके उस आनन्दघन के पास जाता है। वहां धरना लगा देता है—

मधौ न मक्ष आसते।

'जैसे मधु पर मक्खियां जा बैठती हैं।'

मधुमक्षिकाएं मधु की तलाश में निकलती हैं, मधु मिलने पर वहां डेरा डाल देती हैं। संसार से सन्तप्त जीव आनन्द की तलाश में निकलते हैं, ज्योंही उन्हें आनन्दघन प्रभु का मेल होता है, वे भी मक्खियों की भांति वहाँ आसन जमा लेते हैं। अब वे अपनी सारी कामनाओं का विषय परमेश्वर को बना लेते हैं। क्योंकि अब उन्होंने आनन्द की मीमांसा कर ली है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः, आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। [तैत्तिरीयोप० ब्रह्मानन्द० ८

आनन्द की मीमांसा इतनी ही है कि जवान हो, सदा भली प्रकार जवानी के विचार रखता हो, उत्तम भोजन करता हो, अत्यन्त दृढ़ हो, और बलिष्ठ हो। संपूर्ण धन-धान्य से पूर्ण यह पृथ्वी उसकी हो, यह एक मानुष आनन्द है। [आनन्द की एक इकाई Unit है] ऐसे ही मानुष आनन्द हो तो निष्काम ब्रह्म-ज्ञानी का आनन्द है।

और ब्रह्मानन्द! उसे कैसे गिनाएं? जिसने उसे पा लिया, वह क्योंकर सांसारिक विषयों में फंसेगा? कहा है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
[यो० द० २।४२। व्यासभाष्य]

संसार में जो कामसुख हैं अथवा जो कोई महान् दिव्य सुख हैं; वे तृष्णानाश से उत्पन्न होनेवाले आनन्द का सोलहवां भाग भी नहीं है। इस वास्ते ऐसे महात्मा—

इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवः

'आत्मधनाभिलाषी स्तोता परमात्मा में कामना को लगाते हैं।'

वसु (धन) की कामना है न। प्रभु इन्द्र हैं, अखिलैश्वर्य-संपन्न हैं, वसुओं के वसु हैं। अतः आत्मधनाभिलाषी उस धनिकों के धनी की कामना करते हैं। जिन्होंने भगवान् की चाहना की, वे विषयों से हट जाते हैं—

रथे न पादमादधुः।

'रमणसाधन में, मौज-बहार के उपायों में वे पैर नहीं रखते।'

विषय-सुख क्षणिक और दुःख-परिणामी है और भगवदानन्द शाश्वत। शाश्वत के होते क्षणिक को कौन ले?

नचिकेता के तृतीय प्रश्न के समाधान के प्रसङ्ग में यम कहते हैं—

जानाम्यहं शेवधिरित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेताश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि
नित्यम् ।

कठ० २ । १०

मैं जानता हूँ कि संसार के सुख-साधन, द्रव्य,दारा सब अनित्य हैं, क्षणिक हैं, और कि इन अनित्य पदार्थों के द्वारा वह ध्रुव-शाश्वत आनन्द नहीं मिल सकता । अतः मैंने अपने हृदय में नाचिकेत अग्नि [संशयरहित प्रभुप्रीति] जलाई है । और इस प्रकार [उस नाचिकेत अग्नि में इन अनित्य द्रव्यों का होम करने से] नित्य-शाश्वत को मैंने पा लिया है ।

प्रभुभक्त अनित्य में फंस ही नहीं सकता । वेद ने भी उपदेश दिया है—

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि

(ऋ० १० । १७३ । ६)

'हम ध्रुव हवि के द्वारा ध्रुव सोम को प्राप्त होते हैं ।'

उपनिषद् ने जो बात कही, वेद उससे एक पग आगे की बात कह रहा है । अनित्य द्रव्यों का त्याग तो अनिवार्य है, किन्तु नित्य पदार्थ—अपने आत्मा—को भी हविः (हवन सामग्री) बनाना होगा । आत्मा की बलि देनी होगी अर्थात् अहङ्कार को मारना होगा । अहङ्कार को मारे बिना प्रभुमिलन असंभव है ।

प्राणी अज्ञान के वशीभूत हुआ भौतिक भोगों में फंसता है । जब आत्मबलिदान की भव्य भावना उत्पन्न हो गई, तब आत्मा की भोगरुचि तो विलीन हो ही जाती है । अतः वेद कहता है—

रथे न पदमादधुः

❀ भगवान् की वाणी का वरण कर ❀

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्त्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥

अ० ७।१०५।१

पौरुषेयात्—मनुष्य के कहे [वचन] से ।
अपक्रामन्—हटता हुआ [और]
दैव्यम्—दैव्य = देवप्रणीत ।
वचः—वचन, वेदवाणी को ।
वृणानः—स्वीकार करता हुआ ।
विश्वेभिः सखिभिः सह—संपूर्ण मित्रों के साथ ।
प्रणीतिः—[वेदोक्त] उत्तम नीतियों को, श्रेष्ठ आचार व्यवहारों को ।
अभिआवर्त्तस्व-तू सब ओर बरत

मनुष्य अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है । उसकी इस अल्पज्ञता के कारण उसे भ्रम हो सकता है, वह भूल कर सकता है । कोई मनुष्य धूर्त होता है, उसमें दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति होती है । भ्रान्त मनुष्य का अनुसरण करनेवाला भ्रम की खाई में गिर सकता है । धूर्त, प्रतारक, वञ्चक, ठग के फन्दे में फंसकर मनुष्य अपना सर्वस्व गँवा बैठता है । अतः इनका संसर्ग या अनुसरण भयावह है, खतरनाक है । इस कारण वेद कहता है—

अपक्रामन् पौरुषेयात् । 'पुरुषप्रणीत वचन से परे हट ।'

मनुष्य को सारा ज्ञान दूसरों से मिलता है । बोलना तक मनुष्य दूसरों के अनुसरण से सीखता है । भारत में उत्पन्न बालक यदि चीन में भेज दिया जाए, और उसका भरण-पोषण

वहाँ हो, तो वह वहाँ की भाषा बोलेगा, क्योंकि उसको चारों ओर वही भाषा सुनने को मिलती है। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य में नैसर्गिक ज्ञान के साथ वैनयिक शिक्षा से प्राप्त होने वाला ज्ञान भी है। हमने यह ज्ञान अपने गुरुओं से लिया। उन्होंने अपने गुरुओं से, इस प्रकार आरम्भ के मनुष्य सबके गुरु सिद्ध होते हैं। किन्तु उन्होंने ज्ञान किससे प्राप्त किया? क्या अपने-आप वे ज्ञानी बन गए? यदि ऐसा होता, तो आज भी पाठशाला, विद्यालय, कलाशाला, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय न खुलते। अतः मानना चाहिए कि उन्होंने भी किसी से ज्ञान प्राप्त किया होगा। चूँकि वे सबसे प्राथमिक मनुष्य थे, इस वास्ते कोई मनुष्य तो उनका शिक्षक हो नहीं सकता। अतः भगवान् ने ही ज्ञान दिया। [ऋग्वेद १०।७१ में इस ज्ञान का विशद वर्णन है।] इसी कारण योगदर्शन में भगवान् को पूर्वोंका भी गुरु कहा गया है—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

'वह पहलों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल की परिधि से बाहर है।'

भगवान् के उस उपदेश का नाम वेद* है। इस मन्त्र में उसे 'दैव्यं वचः' कहा गया है। भगवान् सर्वज्ञ है, जैसा कि योगदर्शन में कहा गया है—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् । (यो० १।२५)

'उसमें सर्वज्ञता की पराकष्ठा है।'

संसार के सब पदार्थों का यथार्थ बोध सर्वज्ञ परमात्मा ही करा सकता है। जैसा कि यजुर्वेद ४०।८ में कहा है कि वह—

---

* वेद के ईश्वरोक्त होने के सम्बन्ध में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का वेदोत्पत्तिप्रकरण देखिए।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

'अपनी अनादि जीवरूप प्रजाओं के लिए ठीक-ठीक पदार्थों का निर्माण कर यथार्थ ज्ञान देता है ।'

सर्वज्ञ में भ्रम नहीं हो सकता । प्रभु तो हमारा सदा उद्धार करते हैं । हम अपनी मूर्खतावश उनकी अवज्ञा कर अपना नाश कर लेते हैं। सर्वज्ञ, दयालु में विप्रलिप्सा (ठगने की इच्छा) कहाँ ? वह तो आप्तकाम है । अभिलाषाओं (कामनाओं) के कारण मनुष्य में ठगने की भावना उत्पन्न होती है । भगवान् तो सदा सब जीवों के कल्याण की कामना करते हैं । अतः अपना कल्याण चाहनेवाले को—

वृणानो दैव्यं वचः –'दैव वचन का वरण करने वाला' होना चाहिए ।

ऋग्वेद १, ३७, ४ में आया है—

देवत्तं ब्रह्म गायत । देव (परमेश्वर) के दिए ब्रह्म (वेद) का गान करो ।

यजुर्वेद २६।२ में वेद को कल्याणी वाणी कहा गया है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः

'जैसे मैं यह कल्याणी वाणी सब मनुष्यों के लिए उपदेश करता हूँ ।'

वेदवाणी सचमुच कल्याणी है । सब मनुष्यों के लिए है । जैसे प्रभु के रचे सूर्य, चन्द्र, हवा, पानी आदि पदार्थ सबके लिए हैं, वैसे ही प्रभु के रचे वेद पर भी सबका अधिकार है ।

वेद सर्वज्ञ का वचन होने के कारण 'सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, वेद में ही वेदों को सब विद्याओं का निरूपण करने वाला बतलाया है । यथा—

यस्मिन्निहता वेदा विश्वरूपाः (अथर्व०) ५।२५।६

'जिसमें सबका निरूपण करनेवाले वेद रहते हैं।'

सर्वज्ञ और सर्वहितकारी भगवान् का वचन होने से इसमें उपदेश भी उत्तमोत्तम हैं। कोई भद्दी, अशुद्ध, कुनीति, कुधर्म की बात ही नहीं है। उसमें सारा धर्म्म का, धारण करने योग्य का वर्णन है। कणाद् महर्षि ने इसी हेतु वेद को प्रमाण माना है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। वैशे० १।१।३

'धर्म्म का प्रतिपादक होने से वेद की प्रामाणिकता है।'

इस उत्कर्ष के कारण भगवान् ने आदेश किया है—

प्रणीतिरभ्यावर्त्तस्व—'वेदोक्त उत्तम रीति-नीतियों को बरत।'

क्या अकेले-अकेले ? न। वरन्,

विश्वेभिः सखिभिः सह—'सब सखाओं के साथ।'

अर्थात् वैदिकमण्डल बनाओ। सब मिलकर वेदानुसार आचरण करो। वेद ऋ० १०।१३४।७ में अन्यत्र कहा है—

मन्त्रश्रुत्यं चरामसि—'वेदमन्त्र के अनुकूल हम आचरण करते हैं।

वेदानुकूल आचरण वेद पढ़े बिना नहीं हो सकता। अतः ऋषि ने आदेश किया है—

'वेद का पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है।'

परमधर्म का पालन न करने से मनुष्य गिर जाता है। इसी भाव को लेकर मनु ने कहा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥२।१६८

'जो द्विज वेद न पढ़कर दूसरे विषयों में परिश्रम करता है वह इस जीवन में ही परिवार समेत शीघ्र शूद्र हो जाता है।'

सब विद्याओं के मूल में जिसकी रुचि नहीं, प्रवृत्ति नहीं, वह शूद्र नहीं तो क्या है? दूसरे शास्त्र भी पढ़ो, किन्तु वेद को प्रधानता दो। शूद्रता=दुःखपूर्वक रुदन करने से बचने का यह अमोघ उपाय है। मनुष्य की वाणी में वह रस, आस्वाद कहाँ जो दिव्य देव की कल्याणी वाणी में है। अतः आ, जन, आ और

वृणानो दैव्यं वचः अभ्यावर्तस्व–'प्रभु की दिव्य वाणी का वरण करता हुआ सब व्यवहार कर।'

ऋषि-मुनि कहते हैं सब कार्य धर्मानुसार करने चाहिएं। धर्म का ज्ञान, कर्तव्याकर्त्तव्य का बोध वेद से होता है। वैसे तो स्मृति, शिष्टाचार, भीतर की प्रकार वे सब धर्म के बोधक हैं किन्तु सबसे प्रधान प्रमाण वेद ही है, जैसा कि मनु जी कहते हैं— धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। 'धर्म को जानने की इच्छा वाले को श्रुति (वेद) परम प्रमाण है। सामान्य प्रमाण नहीं; वरन परम प्रमाण है' अतः 'वृणानो दैव्यं वचः प्रणीतिरभ्या वर्त्तस्व' यह वैदिक आदेश अत्यन्त सुसंगत हैं। स्मृत्योर्द्वैधे श्रुतिः प्रमाणम् दो स्मृतियों में विरोध होने पर श्रुति प्रमाण है। श्रुति स्मृत्योर्विरोधे श्रुतिरेव गरीयसी। श्रुति तथा स्मृति में विरोध होने पर श्रुति (वेद) ही अधिक माननीय है। अतः मानुष वाक्य की अपेक्षा वेदवाक्य का वरण करना मंगलमय है।

❀ भगवान् सबका भेद जानते हैं ❀

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ अ० ४।१६।२

यः तिष्ठति–जो खड़ा है।
चरति-[जो] चलता है, या संशय करता है।
च यः वञ्चति–जो कुटिल चाल चलता है, ठगता है।
यः निलायं चरति–जो छिप छिपकर चलता है, [षड्यन्त्र आदि करता है।]
यः प्रतङ्कम् [चरति]–जो भय का संचार करता है।
यत् द्वौ-[और] जो दो मनुष्य।
संनिषद्य-एक साथ बैठकर।
मन्त्रयेते–गुप्त विचार, मन्त्रणा करते हैं।
राजा–सर्वप्रकाशक।
वरुणः–सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी प्रभु
तृतीयः–[उनमें] तीसरा [होकर]
तद् वेद-उसको जानता है।

इस मन्त्र का उद्देश्य भगवान् की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता बतलाकर पाप से दूर रखना है।

मनुष्य कहीं निर्जन वन में खड़ा है, समझता है, यहाँ कोई नहीं। मुझे कोई नहीं देखता। यह उसकी भूल है। क्योंकि—

राजा तद्वेद वरुणः सर्वप्रकाशक सर्वान्तर्यामी वरुण उसे

जानता है। सर्वप्रकाशक वही हो सकता है जो स्वयंप्रकाशक भी हो। हे भोले मनुष्य! तू अकेला नहीं है, भगवान् भी तेरे साथ है। तुझे वह दिखाई नहीं दे रहा, वह तेरे अन्दर है। तेरी आत्मा के अन्दर है। जो कुछ तू अकेला सोचता है, वह

तद्वेद। 'उसे जानता है, तू उससे छिपा नहीं सकता।

किसी को संशय होता है, प्रभु उसको भी जानते हैं? कोई धूर्त किसी सरलचित्त को एकान्त में ले जाकर उसे ठगने की चेष्टा करता है, और समझता है—"मेरी इस ठगी को कोई नहीं जान रहा।" वेद कहता है—

राजा तद्वेद वरुणः 'अन्तर्यामी भगवान् इस बात को जानते हैं।'

कोई छिपकर टेढ़ी चाल चलता है और समझता है, मैं यह कार्य्य छिपकर कर रहा हूँ। वेद उसे चेतावनी देता है—

राजा तद्वेद वरुणः 'हे कुटिल! अन्तर्यामी इस बात को जानता है।'

कोई लोग दूसरों पर अपना रोब गाँठते हैं, दूसरों पर आतंक दिखाते हैं, उन्हें डराते हैं। वेद कहता है—ऐ डरानेवाले! तू स्वयं डर, भय कर, क्योंकि तेरी इस लीला को—

वेद वरुणः 'अन्तर्यामी जनता है।'

दो मनुष्य एकान्त में जाकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, और पूरी सतर्कता वर्तते हैं कि उन्हें कोई न देख पाए। परन्तु वे भोले या चालाक नहीं जानते कि—

राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः।

'सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान् उन दो में तीसरा होकर सब कुछ जान रहा है।'

वेद यह कहता है कि परमात्मा सब के अन्दर-बाहर है, अतः वह सब का भेद जानता है। यजुर्वेद ४०।४ में कहा है—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।

'वह भगवान् इस सारे जगत् के अन्दर है और वही इस सारे के बाहर भी है।'

भगवान् को यहाँ राजा कहा गया है। राजा का एक अर्थ 'राज्य करने वाला' भी होता है। अर्थात् मनुष्य पाप करके सांसारिक राजा के दण्ड से भले बच जाए, किन्तु वरुण राजा के दण्ड से नहीं बच सकता, क्योंकि वह सर्वज्ञ है। कोई कहीं भाग जाए, उसके पाश से नहीं बच सकता। वेद में कहा है—

उत योद्यामति सर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः॥ अ० ४।१६।४

'चाहे वह [पापकर्त्ता] द्यौ से भी परे चला जाए। किन्तु राजा वरुण से नहीं बच सकता।'

क्योंकि—

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसीयत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमषो जनानाम्—अथर्व ४।१६।५

'जो दोनों लोकों में है और उससे परे है, उस सब को राजा वरुण जानता है। इसने तो लोगों की आँखों के निमेष तक गिन रखे हैं।'

अर्थात् अत्यन्त दूर और अत्यन्त सूक्ष्म सभी उसके ज्ञान के अन्दर हैं। इस वास्ते मानव! संभल! पाप को छोड़। पाप का दण्ड अवश्य मिलेगा। तू अज्ञ, अल्पज्ञ प्राणी को भले ठग ले, किन्तु उस सर्वज्ञ को नहीं ठग सकता।

कहीं कोई भूल से यह न मान बैठे कि भले ही भगवान् सर्वत्र

व्यापक और सर्वद्रष्टा हो, किसी के देखते रहने के कारण हम अपना अभिलषित कर्म्म नहीं छोड़ने के। हमें लज्जा, शङ्का कुछ नहीं है। मानो उनको सावधान करने के लिए ही व्याख्या मन्त्र से पूर्व मन्त्र में कहा है—

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।

'इन सबका महान् अधिष्ठाता इनके सारे कार्यों को दूर तथा समीप से देख रहा है।'

अर्थात् भगवान् सर्वज्ञ (सर्वसाक्षी) ही नहीं है, वरन् वह अधिष्ठाता भी है। पाप-पुण्य, भले-बुरे कर्मों के फलों का व्यवस्थाता भी है। बुरा कर्म करके कोई उसकी दण्ड-व्यवस्था से बच नहीं सकता।

भगवान् की सर्वज्ञता तथा अन्तर्यामिता को बतलाने के लिए वेद में वरुण शब्द का प्रयोग हुआ करता है। जैसे सन्ध्यागत मनसा परिक्रमामन्त्रों में 'प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः' कहा गया है। प्रतीची (उलटी), पीठ पीछे की दिशा, का स्वामी वरुण है। अर्थात् मानव-इन्द्रियों और बुद्धियों से अगम्य पदार्थों का भी भगवान् ज्ञाता तथा नियन्ता है। इसीलिए उसे अघमर्षण मन्त्रों में 'मिषतोवशी' चेष्टावालों का वशकारी कहा गया है। प्रार्थनामन्त्र में भी 'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतोबभूव' (जो प्राणी तथा अप्राणी जगत् का एकमात्र राजा है, नियन्ता है,) द्वारा यही भाव कहा है। 'ईशावास्यमिदम् सर्वं' यह सर्व चर और अचर जगत् ईश्वर से अन्दर-बाहर व्याप्त है। नियन्ता होने के लिए ज्ञाता होना आवश्यक है। जो सर्वनियन्ता है, वह सर्वज्ञाता भी होता है। तभी तो भगवान् को 'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। (य. ४०।१६)

सब विचारों एवं आचारों को जाननेवाला कहा है।

प्रभु की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का विश्वास मनुष्य को पाप-पाशों से बचाता है। इसलिए उससे प्रार्थना है— युयोध्य-स्मज्जुहुराणमेनः (म० ४०।१६) 'हमसे कुटिल पाप को दूर कर।'

* सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग *

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः
तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

अ० ८ । ४ । १२

सुविज्ञानम्—उत्तम श्रेष्ठ विज्ञान को ।
चिकितुषे—जानने की इच्छा करनेवाले ।
जनाय—मनुष्य के लिए ।
सत् च—सत्य और [तदनुकूल]
असत् च—असत्य और [उसकी पुष्टि वाले]
वचसी—दो प्रकार के वचन ।
पस्पृधाते—एक दूसरे को [मानो दबाना चाहते हैं]
तयोः—उन दोनों में से ।
यत सत्यम्—जो सच्चा है ।
यतरत् ऋजीयः—[और] जौन-सा अधिक सरल है ।
सोमः—शान्त ज्ञान ।
तत् इत्—उसको ही ।
अवति—पसन्द करता है, ग्रहण करता है ।
असत्—झूठ को ।
आ हन्ति—सर्वथा त्याग देता है ।

मनुष्य जीवन क्या है ? विचार से देखो, यह रणस्थली है ।

यहाँ देवों और असुरों की लड़ाई छिड़ी रहती है। सत्य और असत्य परस्पर में लड़ते रहते हैं। किन्तु होता क्या है? जोगी-जोगी लड़ें और खप्पर का नुकसान लड़ाई सत्य और असत्य की और कुचली जाती है मनुष्य की आत्मा। जैसे दो सेनाओं की लड़ाई में भूमि खून से रंग जाती है। भूमि पर अधिकार करने के लिये ही दो सेनाएं लड़ती हैं। सत्य और असत्य भी ज्ञानाभिलाषी मनुष्य पर अपना अधिकार जमाने के लिये परस्पर लड़ते हैं—

सुविज्ञानं चकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस वेदमन्त्र के भाव को लेकर अनेक स्थानों में देवासुर-संग्राम, देवों और असुरों के युद्ध का रूपक निरूपण किया गया है।

जब मनुष्य किसी कार्य को करने लगता है, तब उसके सामने दोनों पक्ष आते हैं। बहुत थोड़े मनुष्य हैं जो दोनों में विवेक कर सकें। सभी मनुष्यों के जीवन में अनेक अवसर आते हैं जब उनके सामने सत्य और असत्य दोनों आते हैं। ये सत्य और असत्य मनुष्य ही के पास आते हैं—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः।
कठो० २। १॥

श्रेयः (मोक्षमार्ग) अन्य है और प्रेयः (भोगपथ) भिन्न ही है, भिन्न प्रयोजनों वाले ये दोनों मनुष्य को आकर पकड़ते हैं।

सत्य और असत्य को कहीं ऋत और अनृत, कहीं श्रेय और प्रेय, कहीं विद्या और अविद्या भी कहा गया है। यह दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।

ये दोनों एक-दूसरे से अत्यन्त विपरीत, विरोधी एवं विरुद्ध

परिणाम वाले हैं जिसे ज्ञानी अविद्या और विद्या कहते है।'

ठीक है, दोनों का फल पृथक्-पृथक् ही है—

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।

य० ४०। १३

किन्तु सत्य और असत्य की पहचान बहुत कठिन है। बड़े-विद्वान् इस विषय में धोखा खा जाते हैं। वेद ने सत्य की एक पहचान यहाँ बताई है कि—

तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः।

'उन दोनों सत्य और असत्य में जो ऋजीयः (अधिक ऋजु), सरल और सीधा हो वह सत्य होता है।'

सत्य की यह ऐसी पहचान है कि साधारण मनुष्य भी इसके अनुसार चलकर सत्य को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानी की यही पहचान है कि इस ऋजुतर (अधिक सरल) सत्य को—

सोऽभीवति वह शान्तिशील विवेचक ज्ञानी पसन्द करता है, ग्रहण करता और उसकी रक्षा करता है।

सत्य को ग्रहण करने का एक कारण जहाँ सत्य की सरलता है, वहाँ यह भी सभी मानते हैं कि—

सत्येन रक्ष्यते धर्म्मः 'सत्य के द्वारा धर्म की रक्षा होती है।'

अतएव सत्य की सदा विजय होती है। मुण्डक ऋषि ने (मुण्डकोपनिषद् ३।१।६) में कहा है—

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

'सत्य की सदा विजय होती है न कि झूठ की, क्योंकि विद्वानों का मार्ग सत्य से विस्तृत है।'

हमारे पूर्वज आयु में बड़े को आदरपात्र मानते हैं। किन्तु यदि वह सत्यवादी न हो तो उसको वृद्ध भी नहीं मानते। जैसा

कि महाभारत (उद्योगपर्व ३५ । ५८) में आया है—

वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्म्मम्। 'वे वृद्ध ही नहीं, जो धर्म (सत्य) नहीं बोलते।'

सत्यशून्य धर्म्म, धर्म्म नहीं। जैसा कि—

धर्मो न सः यत्र न सत्यमस्ति। वह धर्म्म ही नहीं जिसमें सत्य नहीं।'

इसी कारण मनु ने अ० ८ में कहा है—

न हि सत्यात्परो धर्मः—'सत्य से बढ़कर कोई धर्म्म ही नहीं।'

सुतरां सत्य को जो पसन्द करेगा, वह अनृत को घृणित समझेगा। घृणित को कोई अपने पास नहीं रखता। अतः शान्तिशील विवेकी—

हन्त्यासत्—'झूठ को मार देता है।'

इस मन्त्र में 'सत्' और 'असत्' शब्दों का व्यवहार हुआ है। 'सत्' का अर्थ 'सत्य' और 'असत्' का अर्थ झूठ होता है, जैसा कि ऊपर व्याख्या में दर्शाया गया है। इनका 'भला' और 'बुरा' अर्थ भी होता है। 'सत्' भले की पहचान सरलता है। जो सरल नहीं, कुटिल है वह 'असत्' है। जो अच्छी तरह कहा जाए वह सत्, और जो बुरी तरह कहा जाए, वह असत्। वेद में आता है—

न दुरुक्ताय स्पृहयेत्। 'मनुष्य दुर्वचन की कामना न करे।'

अर्थात् गालीगलौज, कुवाच्य, परुष (कठोर) वचन न बोले। वात्स्यायन मुनि ने असत्य, कठोर, चुगली और असंबद्ध प्रलाप, इनको वाणी की अशुभ प्रवृत्ति बताया है और अशुभ प्रवृत्ति को अधर्म का कारण बताया है। यथा—'वाचाऽनृतं परुषसूचना-

ऽसम्बद्धानि······सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्म्माय। (न्याय१।१।२) दोषों-रागदोष तथा मोह-से प्रेरित हुआ मनुष्य वाणी के द्वारा अनृत (झूठ) परुष (कठोर) सूचन (चुगली) तथा असंबद्ध प्रलाप करता है···यह प्रवृत्ति अधर्म्म का हेतु है। मनु महाराज ने असत्य को सब से बड़ा पाप बताया है—

नानृतात्पातकं परम्। (झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं।)

इसके विपरीत शुभ प्रवृत्तिवाला मनुष्य 'वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायंचेति···सेयं धर्म्माय।' वाणी से सत्य, हित, प्रिय तथा स्वाध्याय करता है।···सो यह प्रवृत्ति धर्म्म का मूल है।

अधार्मिक मनुष्य को शान्ति कभी भी नहीं मिल सकती। अधर्म्माचरण करके शान्ति की, सुख की अभिलाषा करना ऐसा ही है, जैसे धधकते हुए अग्निकुण्ड में घुसकर शीतलता की कामना करना।

अतः शान्ति के अभिलाषी सज्जनों को "सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में सदा उद्यत रहना चाहिए।"

❀ साँच को आँच नहीं ❀

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते ।
नात्रावखादो अस्ति वः ॥

ऋ० १।४१।४

आदित्यासः—हे आदित्यो !
ऋतं यते—ऋत पर चलने वाले के लिए ।
पन्थाः सुगः—मार्ग सुगम [तथा]
अनृक्षरः—कण्टकरहित [होता है]
अत्र—इस [ऋतमार्ग] में
वः—तुम्हारा ।
अवखादः—विनाश, हानि ।
न अस्ति—नहीं है ।

इस मन्त्र में ऋतमार्ग पर चलने के लिए उत्साहित किया गया है । इस मन्त्र में 'आदित्यों' को सम्बोधन करके उनको ऋत-मार्ग की सरलता का उपदेश किया गया है ।

वेद का ऋत शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसका आशय किसी एक शब्द द्वारा प्रकट करना कठिन है । वेद में अनेक स्थानों पर ऋत के साथ 'सत्य' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । ऐसे स्थलों में अथर्व० १२।११ को छोड़कर ऋत शब्द सर्वत्र सत्य से पूर्व प्रयुक्त है । ऋत और सत्य का इकट्ठा प्रयोग और ऋत का पूर्व प्रयोग ऋत शब्द के अर्थ समझने में थोड़ी-सी सहा-यता कर देते हैं । कम-से-कम इतना तो स्पष्ट है कि 'ऋत' जो कुछ भी है, वह सत्य का पूर्वगामी है । इस आधार पर कई विद्वानों का विचार है कि सत्य आचरण की वस्तु है और

ऋत ज्ञान की । अर्थात् 'ऋत' का ज्ञान किये विना सत्याचरण असम्भव है । उनके मत में ऋत का अर्थ है—सृष्टिनियम । सृष्टि-नियम के जाने बिना सत्याचरण असंभव है। सृष्टि के सारे प्रमुख पदार्थ किसी नियम से बंधे हैं । पहला नियम जो स्पष्ट दीख रहा है वह इन सब पदार्थों का परिछिन्न होना है । हमारी पृथ्वी बहुत बड़ी है, २५००० मील इसका व्यास है, किन्तु सीमा वाली है । सूर्य हमारे सौरब्रह्माण्ड का अधिनायक-सा है, वह भी सीमित है, चाहे वह पृथ्वी से कहीं बड़ा है । दूसरा नियम यह प्रतीत होता है कि ये परिछिन्न पदार्थ गतिशील हैं । चन्द्र पृथ्वी के चारों ओर घूम रहा है, पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है । सूर्य भी गतिवान् है । यजुर्वेद ४०:१ में कहा है—

यत्किं च जगत्यां जगत् ।

'इस गतिशील संसार में जो कुछ है गतिशील हैं ।'

संसार को यहां जगती (निरन्तर गति करने वाला) कहा गया है । गति के साथ देखा जाता है गतिमान् का नियत परिधि में गति करना ।

इस प्रकार के आलोचन और विवेचन से संसार में विशेष नियम कार्य करते प्रतीत होते हैं । इन नियमों के जानकर अपने आपको स्वाभाविक नियमों में बाँधने का नाम है-ऋत के अनुसार आचरण करना । वेद में ऋत के अनुसार आचरण करने की कामना की गई है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्य्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥

ऋ० ५ । ५१ । १५ ॥

सूर्य और चन्द्र की भाँति हम कल्याणपूर्वक अपने मार्ग पर

चलें, और ज्ञानपूर्वक किसी की किसी प्रकार की हानि न करते हुए, वरन् यथायोग्य दान देते हुए, हम संगति (एक चाल) चलें।

सूर्य-चन्द्र के अनुसार आचरण करना ऋतानुसार आचरण करना है। उसका थोड़ा-सा स्वरूप भी जता दिया है कि दान की भावना हो, सूर्य-चन्द्र भी प्रकाशादि देते हैं। दान के साथ अहिंसा की, लोककल्याण की उदात्त कामना हो। यह तभी संभव है, जब हमें पूर्ण ज्ञान हो। यदि हमारी इस चाल का फल संगति है तो हमारा चलना ठीक है, अन्यथा नहीं। सूर्य-चन्द्र आदि अपनी परिधियों पर चलते हुए एक चाल (संगति) से चलते हैं।

संगति यज्ञ का दूसरा नाम है। वेद कहता है, हे सूर्य का अनुकरण करने से आदित्य रूपधारियो, ब्रह्मचारियो! ऋतगामी के लिए—

सुगः पन्था अनृक्षरः—'मार्ग सुगम और निष्कण्टक है।'

ऋतगामी जब किसी की हिंसा नहीं करता, किसी का भाग नहीं छीनता, जिसको जो देना चाहिए, वह उसे दे देता है, तब फिर उसके मार्ग में बाधा काहे को आएगी? उसका पथ सचमुच 'अनृक्षरः' निष्कण्टक, बाधारहित ही होगा। यतः वह किसी की हिंसा नहीं करता, इसलिये—

नात्रावखादो अस्ति। 'इस मार्ग में हानि भी नहीं।'

अहिंसा का फल योगदर्शन में कहा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

'अहिंसा के परिपक्व अभ्यास से वैर छूट जाता है।'

वैरी ही बाधा पहुँचाते हैं, जब कोई वैरी न रहा, तब बाधा कैसी? इस वास्ते ऋत-मार्ग पर चलो, निश्चय जानो, इसमें कोई हानि न होगी।

ऋत की महिमा कहते हुए ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है—

ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते (ऋ० ६ । ७४ । ४)

'ऋत का केन्द्र अमृत हो जाता है।'

ऋत के (सृष्टिनियम के) उल्लंघन से मनुष्य मृत्यु का शिकार होता है। इसके विपरीत ऋत का आचारी अमृत(जावनाधार) बन जाता है।

रोग-शोकादि ये सब मृत्यु के विविध रूप हैं। ऋतविरोधी रोग-शोक में ग्रस्त और अतएव त्रस्त रहता है। मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह ऋत के उल्लंघन करने में अपनी वीरता तथा शान समझता है। शायद इसी भाव को मन में रख कर महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथब्राह्मण में **अनृतं मनुष्याः**– 'मनुष्य ऋत के विरुद्ध चलता है' कहा है। किन्तु इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। वेदादि सत्यशास्त्रों में सर्वत्र अनृतत्याग पर बहुत बल दिया है।

मनुष्य बहुधा भय के मारे अनृत का अवलम्बन करता है। यदि मनुष्य को विश्वास हो जाए कि ऋतव्यवहार से उसकी हानि न होगी तो वह अनृत में प्रवृत्त ही न हो। इस मन्त्र में मनुष्य को विश्वास दिलाया गया है कि—

ऋते यते, नात्रावखादः ।

'ऋत का अनुसरण करनेवाले को यहाँ भी कोई हानि नहीं।' अर्थात् वेद डंके की चोट से कह रहा है कि ऋत का अनुसरण करो, अनृत त्यागो।

इस मन्त्र में आदित्य पद बहुत महत्वमय है। आदित्य का अर्थ है अखण्डितव्रत वाला। सफलता प्राप्त करने के लिए, अपने लक्ष्य के लिए जब तक अविचल भावना से कार्य्य न किया जाएगा, तब तक लक्ष्य-सिद्धि की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' 'कल्याण मार्ग में विघ्न बहुत होते हैं।' जो मनुष्य विघ्न-बाधाओं से घबड़ाकर अपने कार्य्य को बीच में छोड़ देता है, वह आदित्य नहीं कहला सकता, क्योंकि उसने अपना संकल्प, व्रत तोड़ दिया है। कार्य्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि। 'या मैं अपने कार्य्य को सिद्ध करूँगा, अन्यथा शरीर त्याग दूँगा।' इस प्रकार के दृढ़-प्रतिज्ञ, अखण्डनीय संकल्प वाले मनुष्य आदित्य कहलाते हैं। ऐसों के मार्ग में विघ्न आकर क्या करेंगे? तात्पर्य्य यह कि ऋतपथ पर चलने से पूर्व आदित्य (अखण्डनीयव्रती) बनना अनिवार्य है।

* सिधाई सुखदाई है *

यं यज्ञं नयथा नर आदित्या ऋजुना पथा । प्र वः स धीतये नशत् ॥

ऋ० १।४१।५॥

आदित्याः–हे सूर्य (समान तेजस्वी)
नर–नेताओ !
यं यज्ञम्–जिस यज्ञ को ।
ऋजुना पथा–सरल मार्ग से ।
नयथा = नयथ–ले चलते हो,
चलाते हो ।
सः वः–वह तुम्हें ।
धीतये–धारण करने के लिए ।
प्र नशत–उत्तम रीति से प्राप्त होता है ।

पिछले मन्त्र में आदित्यों को संबोधन किया गया है । कोई यह न समझ ले कि वेद जड़ सूर्यों को संबोधन कर रहा है, इस लिए इस मन्त्र में आदित्यों को विशेषण बनाकर 'नरः' को संबोध्य बनाया है । 'नरः' का अर्थ है—हे मनुष्यो ! हे नेताओ !

इस मन्त्र में वेद ने जहाँ जड़पूजा का वारण किया है, वहाँ शब्दों की यौगिकता का भी संकेत कर दिया है । नामपद या तो रूढ़ होते हैं, या योगरूढ़ और या यौगिक । अर्थादि का विचार किए बिना किसी पदार्थ का जो नाम रखा जाए, वह नाम रूढ़ कहाता है, जैसे किसी कंगाल का नाम 'धनपति' हो । जिन नामों में प्रकृति-प्रत्यय और उनके अन्वित अर्थ की घटना हो, उन्हें यौगिक कहते हैं । जिस नाम में प्रकृति-प्रत्यय-विचार भी हो,

किन्तु किसी एक ही पदार्थ का वह नाम हो, जिसमें वह अर्थ घटता हो, वह योगरूढ़ कहलाता है, जैसे नीरज। नीरज का अर्थ है जल में उत्पन्न होनेवाला। किन्तु जल में उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक पदार्थ को नीरज नहीं कहते, वरन् केवल कमल को नीरज कहते हैं। वेद में यौगिक या योगरूढ़ शब्द होते हैं, रूढ़ नहीं। वेदार्थ-विचार में इस सिद्धान्त को सदा सामने रखना चाहिए।

नर (नेता) कैसा होना चाहिए? जो आदित्य(अदिति का पुत्र) हो, अदिति का उपासक हो, अदिति का सम्बन्धी हो। अदिति के अर्थ अनेक हैं—मुख्यार्थ है अखण्डशक्ति। अखण्डशक्ति से जिस का सम्बन्ध हो, वह नर (नेता) बनने का अधिकारी है। ऐसे आदित्य-नर जिस यज्ञ को चलाएँगे, उसको ऋजु मार्ग से चलाएँगे।

आदित्य-नरों का भौतिक आदर्श है सूर्य। सूर्य संसार-यज्ञ का एक प्रधान ऋत्विक् है। मनुष्य-आदित्य भी मानव-समाजरूपी यज्ञ के मुख्य ऋत्विक् बनें, और उसे चलाएँ ऋजु मार्ग से। मनुष्य में अज्ञान के कारण कुटिलता आ गई है। उसके कारण मनुष्य यज्ञच्युत हो रहा है। मनुष्य की भलाई सिधाई में है। वेद (य० ४०। १६) में इसी कारण भगवान् से प्रार्थना है—

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः। 'कुटिल पाप को हम से पृथक् कीजिए!'

इस मन्त्र में पाप को कुटिल का विशेषण दिया गया है। यह अत्यन्त उचित है। प्रत्येक पाप में कुटिलता होती है। इसी कारण य० ४०। १६ में भगवान् से सुमार्ग पर ले चलने की याचना की गई है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।

'सब को सुमार्ग दिखानेंवाले प्रभो! ऐश्वर्य के लिए हमें सुमार्ग से ले चल।'

ऋजुमार्ग ही सुपथ होता है। इस वास्ते प्रकृत मन्त्र में आदित्यों को कहा गया है—

नयथा······ऋजुना पथा।

इससे मिलाकर पढ़ो—

अग्ने नय सुपथा। 'हे अग्ने! सुपथ से ले चल।'

वेद में एक जगह ऐसी प्रार्थना है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्य्याचन्द्रमसाविव
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सङ्गमेमहि ॥

(ऋ० ५। ५१। १५)

"सूर्य्य और चन्द्र की भांति हम स्वस्तिमार्ग से चलें, दानशील अहिंसक (मृदु, कोमल, सरल, प्रीतिमय) ज्ञानी का बार-बार हम सङ्ग करें।"

स्वस्ति (सु-अस्ति=अच्छी स्थिति मर्यादावाला) पथ कैसा हो सकता है? इसका उत्तर दृष्टान्त से दिया है। सूर्य और चन्द्र की भाँति। अर्थात् सूर्य और चन्द्र का मार्ग स्वस्तिमार्ग है। सूर्य-चन्द्र अपनी-अपनी मर्यादा में चल रहे हैं। उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। निरन्तर ताप, प्रकाश एवं शैत्यादि देते हुए प्राणी एवं अप्राणी जगत् के जीवन के हेतु बन रहे हैं। सर्वोत्कृष्ट स्वस्ति-पथ यह है कि मनुष्य निज स्वार्थ का त्याग करके पर-हितरत हो जाए। पर-हितरति के भावों को ग्रहण करने के लिए उसे ज्ञानी का सङ्ग करना चाहिए। ज्ञानी कैसा हो? जो दाता हो, प्रतिग्रहीता न हो, किसी की हिंसा न करता हो, किसी का अधिकार न छीनता हो। ऐसे ज्ञानी के संग से सूर्य-चन्द्र समान स्वस्ति-पन्था का ज्ञान होगा और उससे मानव का परम कल्याण होगा।

सुपथ, ऋजुपथ और स्वस्ति-पन्था एक ही वस्तु हैं।

ऋजु मार्ग से यज्ञसंचालन का फल बतलाया है—

प्र वः स धीतये नशत् ।

'वह तुम्हें धारण करने के लिए उत्तमता से प्राप्त होता है।'

मीमांसकों के यहाँ यज्ञ का अर्थ धर्म है। धर्म का अर्थ है—

धारणात् धर्म्मः ।

'जिसके अनुष्ठान से इस लोक और परलोक में जीवन बना रहे, वह धर्म है।'

जीवन यज्ञ के आश्रय से चल सकता है। त्याग और संगतिकरण के बिना जीवन-यात्रा असम्भव है। इस वास्ते यज्ञ मुख्य धर्म है। वेद (य० ३१ । १६) में भी कहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ॥

'निष्काम ज्ञानी यज्ञ के द्वारा यज्ञ (प्रभु) का पूजन करते हैं, यह मुख्य धर्म है।'

देवपूजा, संगति और दान, अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म्मों से ही प्रभु की यथार्थ पूजा होती है, और वही मुख्य धर्म है। उस धर्म का पालन सरल मार्ग से हो तो सचमुच वह धारण करने का कारण बन जाए।

मनुष्य का लक्ष्य है, देव बनना। देव बनने के लिए प्रभु को यज्ञ—सबको यथायोग्य संस्कृत करनेवाला, उचित का उचित रीति से संगति करने करानेवाला, तथा यथायोग्य दाता समझे। उसकी पूजा की सामग्री का नाम यज्ञ है। अर्थात् त्यागपूर्वक, निष्काम भाव से, कर्त्तव्य समझकर उसकी भांति देवपूजा, संगति करण तथा दान से उसका भजन-पूजन हो सकता है अन्यथा नहीं। यही ऋजुमार्ग है, यह मुख्य धर्म्म है।

* अपनी आत्मा की आवाज़ सुनो *

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा
मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा ।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं
यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

य० १८।५८

यत् आकूतात्–जो संकल्पयुक्त।
हृदः वा–हृदय से अथवा।
मनसः–मन से, मनन से।
वा चक्षुषः–अथवा आँख से।
सम् + असुस्रोत्–भली प्रकार निकले।
वा–अथवा [उपर्युक्त शक्तियों से]
संभृतम्–अच्छी तरह धारण किया गया हो।
तत् अनु–उसके अनुकूल।

प्र + इत–उत्तमरीति से चलो।
सुकृताम् उ–[इससे तुम] शुभ कर्म करनेवालों की ही।
लोकम्–अवस्था को [प्राप्त करोगे।]
यत्र–जहाँ।
प्रथमजाः–प्रधान, प्रथमोत्पन्न।
पुराणाः–पुराने।
ऋषयः जग्मुः–ऋषि गए हैं।

साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवः। नि० अ० १। २०

"जिन्होंने धर्म्म का (कर्त्तव्य का) अथवा पदार्थों के वास्तविक गुणादिक का साक्षात्कार (असन्दिग्ध) ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे ऋषि कहलाते हैं।'

हमारे शास्त्रों में साक्षात्कार के लिये बहुत बल दे रखा है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी को कहा—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ॥ बृहदारण्यकोप० ४।४।६

"अरे मैत्रेयि! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। उस साक्षात् के लिए,श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन करना चाहिए।"

साक्षात्कार के बिना किसी वस्तु का यथार्थ कथन कोई कर ही नहीं सकता।

वेद में भी प्रश्न है—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति।

१।१६४।६

'जो हड्डीरहित हड्डियों के ढाँचे को धारण कर रहा है, उस प्रथम उत्पन्न होनेवाले [शरीर धारण करनेवाले] मुखिया का कौन साक्षात्कार करता है?'

दूसरे स्थान (ऋ० १।१७७।३) में कहा है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्।

'मैं अविनाशी आत्मा का साक्षात्कार करता हूँ।'

इस प्रकार वेद एवं वैदिक-शास्त्र साक्षात्कार पर पहुत बल देते हैं।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि साक्षात्कार के साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह धर्म का साक्षात्कार करे। क्योंकि साक्षात्कार से मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करता है, उत्तम गति सभी प्राप्त करना चाहते हैं। ऋषि जिस गति को प्राप्त करते हैं वह "सुकृतामु लोकः" सत्कर्म करनेवालों का लोक है।

वेद ने यहाँ एक सूक्ष्म संकेत किया है कि उत्तम गति की प्राप्ति के लिए ऋषित्व के साथ सुकृत भी होना चाहिए, यथार्थज्ञान के साथ उत्तम कर्म भी होने चाहिएं, अकेले कर्म से या अकेले ज्ञान से उत्तम गति का मिलना असंभव है। किन्तु सत्कर्म और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कहाँ से हो ? इसके समाधान में कहा जाता है—

धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु० २।१३)।

'धर्म्म के जिज्ञासुओं के लिये श्रुति परम प्रमाण है।'

अच्छा, जिनकी श्रुति में गति न हो, वे क्या करें ? धर्म्म-शास्त्रकार स्मृति को उनका सहारा बताते हैं। कोई बोल पड़ता है—

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतय विभिन्नाः,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।

श्रुतियों में भेद है, [कहीं ब्रह्मचर्य्य है, कहीं गृहस्थ का उपदेश है, कहीं अहिंसा का आदेश है, तो कहीं मारकाट का संदेश है।] स्मृतियां भी एक जैसी बात नहीं कहतीं, अतः साधारण मनुष्य की बुद्धि में यही आता है कि किसी ऋषि-मुनि की बात नहीं माननी चाहिए। तब किसकी बात मानें ? उत्तर है—

'महाजनो येन गतः स पन्थाः।'

'महाजन" (बड़े लोग) जिस मार्ग से जाएं, वही मार्ग है, वही माननीय है।

किन्तु संसार में इस समय अनेक मत (पन्थ) हैं, प्रत्येक का महाजन अपना-अपना है। कोई अहिंसा को धर्म बतलाता है, कोई प्राणिघात को पुण्य बतलाता है। ऐसी अवस्था में किसकी बात मानें और किसकी न मानें ? ऐसी अवस्था में जो कुछ अपना हृदय कहे, वह मानना और करना चाहिए। मनु ने भी धर्म्म के चार लक्षण बताते हुए लिखा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

'श्रुति (वेद) स्मृति, सदाचार(श्रेष्ठ पुरुषों का आचार) और अपने मन को जो प्रिय लगे ।'

मनु ने स्वस्य च प्रियमात्मनः लिखा है । वेद ने बहुत पहले इसको खोलकर कहा है—

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा ।

'जिसके लिए संकल्प उठे, हृदय और मन साथ दें । आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ भी उसकी सहायक हों ।'

'स्वस्य च प्रियमात्मनः' 'अपने मन को जो प्रिय लगे ।' किसी के मन को दूसरे के प्राण लेना प्यारा लगता है । क्या वह वैसा कर ले ? वेद ने जो कुछ कहा है, उससे प्रतीत होता है कि वेद को ऐसा अभिमत नहीं, क्योंकि वेद हृदय और मन और संकल्प इन सबकी अनुमति का आदेश कर रहा है । जब मन से पूछते हैं, क्या यदि तुम्हारी हत्या कर दी जाए तो तुम्हें पसन्द होगा ? इस पर मन में झिझक पैदा होती है । वेद के इस आशय को लेकर नीतिकार कहते हैं—

आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचारेत् ।

'जो अपने को अप्रिय है, वह दूसरों के लिए भी न करे ।'

अर्थात् अपनी आत्मा की आवाज़ अवश्य सुने और तदनुकूल करे भी, किन्तु विवेकपूर्वक ।

* स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् *

कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
तदिध्यस्य वर्धनम्॥ सा० पू० ३।४।२॥

महे प्रचेतसे—महान् ज्ञानी सर्वज्ञ।
देवाय—कमनीय प्रभु के लिए।
कत् उ—थोड़ा-सा भी।
वचः शस्यते—वचन [जो] कहा जाता है।
तत् हि—वह सचमुच।
अस्य—इस (स्तोता) का।
वर्धनम् इत्—बढ़ाने वाला ही होता है।

इस मन्त्र में भगवान् की स्तुति का फल बताया गया है। भगवान् का थोड़ा-सा भी स्तवन जीवों का कल्याणकारक होता है।

आर्य्य-शास्त्रों में स्तुति, प्रार्थना, उपासना का बहुत विधान है। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में संसार में बहुत भ्रम फैला हुआ है। इनका यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण लोग इन तीनों को मानते हैं। अतः इन तीनों का थोड़ा-सा स्वरूप यहाँ वर्णन करते हैं—

किसी वस्तु के गुणों को यथाशक्ति ठीक-ठीक जानकर उनका कीर्त्तन करना स्तुति है। उससे विशेष लाभ है। जीव का सारा यत्न सुख-प्राप्ति और दुःख-विनाश के लिए है। उसे ज्ञानी

गुरु और वेदादि सत्य-शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञात हुआ है कि आनन्द परमेश्वर में है। अपने में आनन्द के अभाव के कारण आनन्द की लालसा होती है और परमेश्वर में आनन्द की सत्ता के ज्ञान से वह भगवान् के इस गुण का कीर्त्तन करता हुआ उसकी प्राप्ति के लिए व्यग्र हो उठता है, और रोकर कहता है—

कदा न्वन्तर्वरुणे भवानि। (ऋ० ७।८६।२)

'कब मैं सब से श्रेष्ठ अन्तर्यामी के भीतर प्रवेश करूँगा ?'

अर्थात् कब मेरा संसार-पाश से छुटकारा होकर भगवान् से मेल होगा ?

अपने अन्दर इस अनुभव होनेवाली त्रुटि को दूर करने और उसके प्रतिपक्ष उत्तम गुण को प्राप्त करने की व्यग्रता का नाम प्रार्थना है। उस व्यग्रता को दूर करने के साधनों के अनुष्ठान का नाम उपासना है।

अब थोड़ा-सा ध्यान दीजिए, यदि स्तुति न की जाय तो प्रार्थना और उपासना हो ही नहीं सकती। प्रार्थना-उपासना का मूल आधार स्तुति है। स्तुति के कारण अपनी त्रुटि तथा उसके दूर करने के साधन ज्ञात होते हैं, और उसी कारण मनुष्य प्रार्थना, उपासना में प्रवृत्त होता है। इस वास्ते वेद ठीक ही कहता है—

तद्भूयस्य वर्धनम्।

'यह उसकी वृद्धि करनेवाला होता है।'

मानो इसी मन्त्र का अनुवाद करते हुए किसी ने कहा है—

प्रत्यवायो न विद्यते।

'इस कर्म की हानि नहीं होती।' वरन्—

स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्।

'इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान बड़े भय से बचा देता है।'

भगवान् तो अत्यन्त कृपालु हैं, उसके अनन्त दान हैं, जैसा कि वेद में कहा है—

सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ।

'जिसके सैंकड़ों दान हैं, अथवा असीम हैं।'

हाँ, स्तुति आदि के लिए एक नियम है। वह यह कि—

न पापासो मनामहे नारायसो नजह्लवः ।

'मन में पाप का भाव रखकर, अथवा कंजूसी की वृत्ति से और झल्ले [सुकर्म्मरहित] होकर हम उसकी स्तुति आदि न करें।'

अर्थात् किसी का अनिष्ट करने, किसी को हानि पहुँचाने आदि पापों की भावना से हमें भगवान् की स्तुति प्रार्थनादि नहीं करनी चाहिए। वरन् दृढ़ निष्ठा और आस्था से अपने तथा पराये कल्याण के लिए स्तुति, प्रार्थना, उपासना करें। यदि उससे अभीष्ट सिद्ध न हो तो फिर भगवान् से यों कहें—

पृच्छे तदेनो वरुण ।

'हे वरुण! मैं अपना पाप तुम से पूछता हूँ।'

प्रभु के मार्ग (धर्म्म) पर जब मनुष्य चलने लगता है, तो उसे कई प्रलोभन आ घेरते हैं। उस समय साधक को यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए—

महे च न त्वामद्रिवः परा सुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

ऋ० ८।१।४॥

सब प्रकार की जीवन-सामग्री देने वाले प्रभो! तुझे मैं किसी बड़े-से-बड़े शुल्क के बदले भी न त्यागूँ; न सैंकड़ों के बदले, न हज़ारों के बदले। और हे अनन्त धनोंवाले! न ही लाखों के बदले।

नचिकेता के सामने जब प्रलोभन आए थे, तब अपने ध्येय में सन्देहरहित नचिकेता ने कहा था—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो········· ॥२७॥ कठो० १ ॥

'यह विनाशी पदार्थ मनुष्य के इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करते हैं। सारे संसार की आयु भी थोड़ी है। अतः नाच-गान, सवारी अपने पास रख। धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती।

जब ऐसी दृढ़ धारणा हो जाए और साधक यह कह सके—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् ॥

'परमेश्वर का मैं कभी त्याग न करूँ, क्योंकि परमेश्वर ने मेरा कभी परित्याग नहीं किया।'

तब साधक की वृद्धि में सन्देह ही क्या है; क्योंकि अब वह सब की वृद्धि करनेवाले से मेल कर चुका है।

संसार के पदार्थ तो वास्तव में नीरस हैं, उनमें जो रस की प्रतीति हो रही है, वह प्रभु की व्याप्ति के कारण है। यदि भगवान् हमारा त्याग कर दें, तो हमें कभी भी किसी पदार्थ में रस-प्रतीति न हो। अतः आओ, भगवान् से मेल बनाए रखने के लिए उसकी स्तुति करें। संसार के सकल पदार्थ जो हमने संग्रहीत किये हैं, यहीं रह जाएंगे। कोई एक भी साथ नहीं जाएगा। साथ जाएगा केवल धर्म्म। धर्म्म का भाव किसी पिछले प्रवचन में बताया जा चुका है कि ईश्वर पूजा है। स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना के द्वारा त्यागपूर्वक भगवान् का आराधन ईश्वरपूजा है। वह मुख्य धर्म्म है, वह मनुष्य का साथ देता है। जिसने उसका संचय नहीं किया, वह रीता होने के कारण अन्त समय पछताता है, और

वह भी पछताता है जिसने धर्म्म के स्थान में अधर्म्म का संग्रह किया है। धर्म्म शान्ति, सन्तोष का हेतु होता है। अधर्म्म से अन्त समय बेचैनी, व्याकुलता का अनुभव होता है। दोनों एक दूसरे के विपरीत जो हुए।

* शरीररूपी रथ से हितसाधन *

उद्यानं ते पुरुष नावयानं
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथ-
मथ जिर्विर्विदथमावदासि ॥

अ० ८ । १ । ६

पुरुष—हे पुरुष ! हे नागरिक मनुष्य !
ते उद्यानम्—तेरे लिए ऊपर जाना है ।
न अवयानम्—न कि नीचे जाना है ।
इमम् अमृतम्—इस अमृत (मुक्तिदाता) ।
सुखं रथम्—[तथा] सुखदाता रथ पर ।
आ+रोह हि—चढ़ ही ।
जीवातुं ते—जीने के लिए तुझे ।
दक्षतातिं—दक्षता, उत्साह का विस्तार ।
कृणोमि—करता हूँ ।
अथ—और इसके बाद ।
जिर्विः—स्तुति योग्य बनकर ।
विदथम् आवदासि—ज्ञान उपदेश कर ।

कई मनुष्य किसी कार्य्य में असफल होकर उदास हो जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि हम उन्नति कर ही नहीं सकते। ऐसों को माता से भी अधिक हितकारिणी भगवती जगदम्बा साहस देती हुई कहती है—

उद्यानं ते पुरुष नावयानम् ।

'हे पुरुष ! मर्द ! तेरे लिए आगे बढ़ना है,न कि पीछे हटना ।'

प्रभु मनुष्य को यहां 'पुरुष' कह रहे हैं। अरे तू मर्द है, नर है। क्यों नपुँसकों की भांति जी छोड़कर, दम तोड़कर मुमूर्षु बन रहा है ?

महाभारत में अर्जुन को लक्ष्य करके कहा गया है—

क्लैव्यं मा स्म गमः । 'अरे ! हीजड़ापन मत दिखा ।' मर्दानगी, पुरुषत्व कर्तव्य-पालन में है न कि कर्तव्य से (स्वधर्म्म) से विमुख होने में।

जगदम्बा ने दूसरे स्थान पर कहा है—

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतो अयनम् ।

(अथर्व०)

'पुत्र ! जितने प्राणी हैं, जो भी सांस लेता है,उन सब का लक्ष्य ऊपर उठना, आगे बढ़ना है ।'

भगवान् की सृष्टिरचना ही देख लो, इसमें बढ़ने के भाव हैं। अवनति (गिरना) मरना, जड़ का धर्म है। चेतन में गिरना कैसा ? चेतन आगे ही बढ़ेगा। चेतन में गति होती है, या वह स्वयं गति करे अथवा दूसरों को गति दे। गति आगे चलने का नाम है न कि पीछे हटने का। अतः माँ उत्साह बढ़ाती हुई कहती है—

उद्यानं ते पुरुष, न अवयानम् ।

माँ ! मैं कैसे सफल हो सकता हूँ, मैं तो हार गया। मुझ से कुछ नहीं बनने का ?

न, वत्स, न।

जीवातु ते दक्षतातिं कृणोमि ।

'जीने के लिए दक्षता की सारी सामग्री मैं तुझे देती हूँ।'
ले, सबसे पहले इस शरीररूपी रथ पर चढ़—

आ हि रोहेमम्। 'अरे चढ़, इस पर चढ़।'

यह शरीर ऐसा नहीं जिसकी तू उपेक्षा करे। मानव-तन बड़े पुण्यों से मिलता है। इस रथ की महिमा को समझ। देख—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। (य० १६।४३)

इस रथ पर बैठा उत्तम सारथि वाला घोड़ों को (इन्द्रियों को) आगे कर जहाँ-जहाँ चाहता है, ले जाता है।

अर्थात् इस रथ पर (रमणसाधन) पर आरूढ़ होकर आत्मा यदि सारथि उत्तम रखले तो जहाँ चाहे वहाँ पहुँच जाए। इसी कारण इसको—

अमृतं सुखं रथं।

अमत (मोक्ष) और सुख (सांसारिक सुख देनेवाला) 'रथ' कहा है।

योगियों ने इस वैदिक तत्व का अपनी भाषा में अनुवाद करते हुए कहा—

भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

'यह शरीर और शरीर जैसे अन्य दृश्य पदार्थ जीव को भोग और मोक्ष दिखलाते हैं।'

इसी सूत्र के पूर्वार्ध में इसका शील तथा स्वरूप भी ऋषि ने बतला दिया।

प्रकाशक्रिया स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकम्। इसमें कभी कभी प्रकाश होता है, कभी क्रिया (गति) तथा कभी-कभी स्थिति (गति) का अभाव होता है, क्योंकि इसका स्वरूप पंचभूतों तथा

इन्द्रियों के सहारे बना है। प्रकाश सत्य का वाचक है, क्रिया रजोगुण की द्योतक है, स्थिति तमोगुण की द्योतक है। पृथ्वी, पय, पावक, पवन तथा आकाश पाँच भूत हैं; शरीर की रचना इन से होती है। इस शरीर का कार्य्य-व्यवहार आँख, नाक, कान, त्वचा, रसना, ज्ञानेन्द्रियों तथा हस्त, पाद, पायु, उपस्थ आदि कर्म्मेन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा निष्पन्न होता है।

संसार पर गहरी दृष्टि डालिए, इसके अतिरिक्त संसार में और कुछ भी ज्ञानगोचर न होगा।

यह सारी रचना निष्प्रयोजन नहीं है। इसका प्रयोजन भोग तथा मोक्ष बतलाया गया है। एक-एक इन्द्रिय से होने वाले अनुभवों को भोग कहते हैं। भोग-भावना से छूटना मोक्ष है। छूटना उठना, ऊपर उठना है। भोग-पाश में बंधना नीचे गिरना है। अतः वेद का यह कहना कि उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। मनुष्य जीवन का लक्ष्य उद्यान (ऊपर उठना) मोक्ष है, अत्यन्त उचित है।

वेद की शब्दरचना अलौकिक है। इसमें रथ के दो विशेषणों 'अमृत' और 'सुख' में से 'अमृत' को पहला स्थान दिया गया है। इसका गूढ़ आशय है—अरे मनुष्य! मोक्ष प्राप्त कर। इससे भोग में मत फँस। विषयों का सुख प्राप्त करने की वस्तु नहीं, वह आनुषङ्गिक है। मुख्य उद्देश्य अमृत की प्राप्ति है।

जगदम्बे! तेरी कृपा से मैंने इस रथ पर सवारी की और हो गया मैं अमृत, अ+मृत; न+मृत (मौत के पाश से मुक्त) तेरा धन्यवाद। मैं भी तेरी कृपा से जिविं! (स्तुति के योग्य) बन गया हूँ।

वत्स! मेरा धन्यवाद करना है, तो लोगों को—

विदथमावदासि।

'ज्ञान का, ज्ञान-प्राप्ति-साधनों का उपदेश कर।'

तुझे भले ही कुछ प्राप्त नहीं करना रहा, किन्तु लोग भोग के पाश में फँस गये हैं। उनको उपदेश कर। उनको वह साधन भी बता, जिससे तू अमृत बन सका। तभी तेरी जीवन्मुक्ति सफल है।

❀ कोई धीर ही उसे प्राप्त करता है ❀

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ
जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।
धीराश्चित्तत्समिनक्षन्त आशता-
ऽत्रा कर्त्तमव पदात्यप्रभुः ॥

ऋ० ९।७३।९

वरुणस्य–अन्तर्यामी भगवान् की
मायया–ज्ञानक्रियाशक्ति से ।
जिह्वायाः—पवित्र-वाणी को पवित्र करने वाले ।
अग्रे–अग्र भाग में, सामने दीखनेवाले जगत् में ।
ऋतस्य–ऋत का, सत्य का
तन्तुः–विस्तारक तन्तु ।
आ विततः—सब तरह फैला हुआ है ।
धीराः चित्–धीर ही ।
सम्+इनक्षन्तः—अच्छी प्रकार देखते हुए ।
आशत—[उसे प्राप्त] करते हैं ।
अत्र अप्रभुः—इसमें असमर्थ [मनुष्य]
कर्त्तम्–क्रिया को ।
अव पदाति–नीचे गिरा देता है ।

भगवान् की ज्ञान क्रियाशक्ति से ऋत का तन्तु (जाल) सर्वत्र फैला हुआ है । यह इतना समीप है कि मानो जिह्वा के अगले भाग पर है, किन्तु जिह्वा का वह भाग पवित्र होना चाहिए ।

ऋत का तन्तु (सृष्टि का अटूट नियम) वरुण का अदाभ्य व्रत सर्वत्र विस्तृत है—ऋतस्य तन्तुर्विततः ।

यदि यह सर्वत्र फैला है, तो दीखता क्यों नहीं ? अवश्य दिखाई देना चाहिए। दीखता तो है, किन्तु सबको दिखाई नहीं देता। कोई विरले—

धीराश्चित्समिनदन्त आशत ।

'धीर ही भली प्रकार देखते हैं और पा लेते हैं ।'

अर्थात् देखने के लिए धैर्य्य चाहिए। कोई भी विघ्न-बाधा आए, साधक को अपने लक्ष्य से डिगा न पाए। तब साधक उसे देख पाएगा। देख ही नहीं पाएगा, वरन् प्राप्त कर लेगा। कठोपनिषद् २।१।१ में कहा है—

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

'विधाता ने ये इन्द्रिय बहिर्मुख बनाए हैं, इस कारण आत्मा इसके द्वारा बाहर देखता है, आत्मा के भीतर नहीं। कोई धीर पुरुष ही अमृत की इच्छा से युक्त होकर आँखें खोलकर प्रत्यगात्मा (अपने आत्मा) को देखता है।'

'इन्द्रिय प्रकृति से बनी हैं, अतः ये प्राकृत पदार्थों का ही ज्ञान कराती हैं। आग की बनी आँख रूप और रूपी वस्तु का दर्शन करा सकती है। रूपरहित आत्मा या उसके अन्दर रहनेवाले परमात्मा को यह कैसे दिखाए ? यही अवस्था अन्य इन्द्रियों की है। अथवा इससे भी हीन है। रसना रस का प्रत्यक्ष ज्ञान कराती है, रसवान् का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कराती। स्पर्श-इन्द्रिय शीत, उष्ण, कोमलता, कठोरता का ज्ञान कराती है, किन्तु शीतलतावाले, उष्णतावाले, कोमलतावाले, या कठोरतावाले का प्रत्यक्ष कराने में वह असमर्थ है। कान शब्द का प्रत्यक्ष कराता है, किन्तु शब्द के आश्रय

आकाश का प्रत्यक्ष प्रकाश कराने में वह सर्वथा अशक्त है। नाक की कथा भी ऐसी है, वह निगोड़ी भी सुगन्ध, दुर्गन्ध की सूचना दे पाती है। सुगन्धमय या दुर्गन्धमय पदार्थ का साक्षात् कराने में सर्वथा अक्षम है। जब ये महाबल करण अपने ग्राह्य गुण के गुणी का प्रत्यक्ष नहीं करा सकते, तो इन गुणों से शून्य का ज्ञान कैसे करायें ? हाँ, कोई ज्ञानी बाहर की आँखें मूँदकर अन्दर की खोलकर आत्मा के दर्शन कर लेता है। और वह भी तब जब उसे मृत्यु से बचना हो। ये समग्र इन्द्रियाँ मरणधर्म्मा पदार्थों से सम्बन्ध कराती हैं, अतः ये तो मौत के चक्कर (जन्ममरण के प्रवाह) में गिराते हैं। जो इनके विषयों से विरक्त हो मृत्यु से छुटकारा चाहता है वह अन्दर को झांकने की चेष्टा करता है।

एक और दृष्टि से, वास्तविक दृष्टि से विचार करें तो इन्द्रिय प्राकृतिक पदार्थों का भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं करातीं। देखिए! आँख से हम सूर्य्य अथवा चन्द्र को देखते हैं। क्या ये इतने ही हैं ? वैज्ञानिक कहते हैं—सूर्य्य हमारी पृथ्वी से १३ लाख गुणा बड़ा है। रात्रि में झिलमिल २ करते क्षुद्र प्रदीप के समान तारे दीखते हैं। क्या यह इतने छोटे हैं ? वैज्ञानिक कहते हैं—इनमें कोई-कोई हमारे सूर्य्य से कई गुणा बड़ा है। ऐसी अवस्था में क्या आँख सर्वथा विश्वास के योग्य है ? इसी प्रकार दूसरी इन्द्रियों की दशा है। बोलने और चखने का कार्य एक गोलक से हो रहा है। किन्तु क्या कभी आपने सोचा कि वाणी चखे रस का वर्णन नहीं कर सकती। क्या कोई वाणी द्वारा कभी मीठे का निरूपण कर सकता है ? महान् से महान् विद्वान् भी इसमें असफल रहता है। दूसरे को मीठा स्वाद बताने के लिये कोई मीठा पदार्थ उसकी जिह्वा पर ठीक रख दिया जाता है। जब प्राकृतिक रस इन्द्रियवेद्य नहीं, इन्द्रियागोचर है, तब अप्राकृत आत्मा का निरूपण वे कैसे कर सकते हैं !

जिसके हृदय की आँख नहीं खुली, वह इस आत्मदर्शन में असमर्थ है। वह

अत्राकर्त्तमव पदात्यप्रभुः ।

'इसमें असमर्थ कर्त्तव्यच्युत हो जाता है।'

मनुष्य का कर्त्तव्य तो आत्मदर्शन है, जिसने इसे नहीं किया उसने कुछ नहीं किया। ऐसे मनुष्य विषयभोग में ही फंस जाते हैं। उनकी करुणोत्पादक दशा का चित्र कठोपनिषत् २।१।२ में इस प्रकार खींचा गया है—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्तेमृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

अज्ञानी लोग बाहर के विषयों के पीछे दौड़ते हैं। इससे वह मौत के विस्तृत जाल में फँसते हैं। हाँ, धीर (धैर्यशील) ध्यानी मोक्ष-स्वरुप (वास्तविक जीवन) को जानकर इन अनित्य विषयों में उस नित्य आनन्द की कामना नहीं करते।

आत्मदर्शन से जो आनन्द और रस मिलना था उसको लालसा से, आत्मदर्शन में असमर्थ [उपनिषत् के शब्दों में बाल=मूर्ख] बाह्य विषयों में, इन्द्रियों के विषय में जा फंसता है—इसी को कर्त्तव्य से गिरना कहते हैं।

वेद में जिसे 'अप्रभु' कहा है, उपनिषद् में उसे 'बाल' कहा है। बाल शब्द में वह स्वारस्य नहीं जो अप्रभु में है। वयः में बालक न होकर भी जो किसी कारण से आत्मदर्शन नहीं कर पाता है, वह अप्रभु है। प्रभुता के लिये (सामर्थ्य के लिये) धीरता चाहिये। धीरता प्राप्त करो, आत्मदर्शन का मार्ग खुल जायेगा। इसी कारण धृत (धैर्य, धीरता)—धीरपन को धर्म का पहला लक्षण माना गया है।

इस मन्त्र में एक बहुत ही मनन करने योग्य तत्व का निरूपण

किया गया है। ऋत का तन्तु सर्वत्र फैला हुआ है। किन्तु वह है इन्द्रियागोचर। जो वस्तु सर्वत्र फैल रही है, वह किसी भी इन्द्रिय से गृहीत नहीं हो रही। है न यह विचित्र तथा अद्भुत समस्या! वैज्ञानिकों ने ज्ञाननेत्र से इसका थोड़ा-सा भान किया है। उसके भान के सहारे उन्होंने अद्भुत चमत्कार कर दिखाये हैं। और जिन महामनुष्यों ने उस सूत्र के सूत्रधार के दर्शन कर लिए, वे आप्तकाम योगी पुकार उठे–प्राप्तं मया प्राप्तव्यं, न किञ्चिदन्यत्प्रापणीयमवशिष्यते–'जो हमें प्राप्त करना था, वह हमने प्राप्त कर लिया हमें और कुछ प्राप्त नहीं करना है।'

इन्द्रियनिग्रह ❀

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानो
विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा
इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य ॥ ऋ० १०।५।५

कम्–सुख को, आनन्द को
दृशे–देखने के लिए, साक्षात् करने के लिए।
वावशानः–निरन्तर कामना करता हुआ, अथवा निरन्तर [इन्द्रियों को] वश में करने वाला।
विद्वान्–तत्त्ववेत्ता ज्ञानी।
सप्त–सात।
अरुषीः–गतिशील, तेजस्वी।
स्वसृः–बहिनों को, अपने सामर्थ्यों को, इन्द्रियों को।
मध्वः–मधु से, रस से।
उत्+जभार–ऊपर उठाता है।
पुराजाः–[इन्द्रियादिक से] पूर्व प्रकट जीव।
अन्तरिक्षे+अन्तः-अन्तःकरण में
येमे–संयम करता है।
पूषणस्य–पुष्टिकारक प्रभु के।
वव्रिम्+इच्छन्–आश्रम को चाहता हुआ।
अविदत्–प्राप्त कर लेता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्रियों द्वारा आत्मा को सुख अवश्य मिलता है, किन्तु वह होता क्षणिक है। केवल क्षणिक ही नहीं, वरन् अन्त में उसका परिणाम सुख के स्थान में दुःख ही होता है। अतः—

सप्त स्वसूररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभारा दृशे कम् ।

आनन्ददर्शन का अभिलाषी इन चंचल इन्द्रियों को विषय-रस के ऊपर उठा लेता है ।

मनु महाराज कहते हैं—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥२।९९

'सभी इन्द्रियों में से यदि एक भी चूने लग जाए, विचलित हो जाए, उतने से ही मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है, जैसे टूटे हुए पात्र से जल ।'

महाभारतकार इससे भी अधिक कहते हैं—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

'जिस प्रकार कछुवा अपने सब अंगों को सर्वथा सुकेड़ लेता है, इसी प्रकार जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटा लेता है, तभी बुद्धि स्थिर होती है ।'

वेद और मनु की इस बात को उपनिषद् ने इस प्रकार पालन किया है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥कठ० २।३।१०

जिस अवस्था में मन के साथ पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और बुद्धि भी निकट हो जाती है उस अवस्था को परम गति कहते हैं ।

सच है । मन, बुद्धि और इन्द्रिय विषयों से उपरत हो जाएं, तो और कुछ प्राप्तव्य रहता नहीं । इसीलिए वेद में ...

इमानि यानि पाञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥

(अ० १६ । ६ । ५) ॥

'यह जो मन और दूसरी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ब्रह्म ने तीव्र करके मेरे हृदय में रखी हैं जिनके द्वारा घोर अनर्थ किया जाता है, उन्हीं से हमें शान्ति हो।'

इन्द्रियों से काम, क्रोधादि अनेक अनर्थ, घोर कर्म्म होते हैं। और उन्हीं से शान्ति भी होती है। कैसे ? सुनिए—

अन्तर्यैमे अन्तरिक्षे पुराजाः ।

'पुरातन जीव अन्तःकरण में संयम करता है।'

आत्मा इन्द्रियों से पूर्व है। आत्मा इन्द्र है। उसके साधनों को इन्द्रिय करते हैं। साधन पीछे आया करते हैं। यह आत्मा ज्ञान प्राप्त करके इन इन्द्रियों को विषयों से रोक देता है। उस का फल है—

इच्छन् वव्रिमविदत्पूषणस्य ।

'भगवान् का आश्रय चाहता है और वह इसे मिल जाता है।'

जब मन सहित इन्द्रियों को रोको तब आत्मा अन्तर्मुख हो जाता है और अन्तरात्मा को पा लेता है।

मनु महाराज ने ठीक ही कहा है—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।

सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ २। १०० ।

'इन्द्रियों को वश में करके और मन का संयम करके मनुष्य सब कामों को सिद्ध कर सकता है, और योग के द्वारा शरीर को भी क्षीण नहीं होने देता।'

मनु महाराज भी इन्द्रिय-निग्रह से मुक्तिप्राप्ति बतलाते हैं।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६ । ६०

'इन्द्रियों के निरोध (इन्द्रियों को विषयों से हटाने से) और राग-द्वेष के त्याग से तथा अहिंसा के द्वारा मनुष्य मुक्ति के योग्य हो जाता है । अतः—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ (२ । ८८)

आकर्षक विषयों में विचरण करनेवाले इन्द्रियों के संयम में विद्वान् ऐसा यत्न करे, जैसे सारथि घोड़ों को वश में करने के लिए करता है ।

जब इन्द्रियों को वश कर लेता है तब सचमुच,

मध्व उज्जभारा दृशे कम् ।

मधु (संसार) मधु से ऊपर उठ जाता है, क्योंकि अब उसे आनन्द के दर्शन करने हैं ।

परीक्षा करके देख लिया, इन्द्रियों के विषयों में आनन्द (शाश्वत सुख) नहीं है । तभी तो महाविषयी भी विषयों से ऊब जाता है ।

आनन्द भीतर है, इन्द्रिय वहिर्मुख हैं; मन के द्वारा आत्मा इन्द्रियों से मिलकर बहिर्मुख हो रहा है अतः अन्दर के रस को, आनन्द को, प्राप्त नहीं कर पाता । जब इन्द्रियों का संग त्याग देता है और अन्तर्मुख हो जाता है तब अपने भीतर रम रहे आनन्दघन के साथ सम्बन्ध करके आनन्दविभोर हो उठता है । अतः इन्द्रियों का संग त्यागने के लिए विषय-वासना की कुभावना को मारना होगा । यही इन्द्रिय-निग्रह है ।

४४

* तप की महिमा *

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

ऋ० ६ । ८३ । १ ॥

ब्रह्मणः+पते–हे ज्ञान के स्वामिन् !
ते पवित्रम्–तेरा पवित्र रक्षणादि ।
विततम्–सर्वत्र फैला हुआ है ।
प्रभुः–तू सर्वशक्तिमान् भगवान् ।
गात्राणि–शरीरों को, शरीर के अवयवों को ।
विश्वतः–सब ओर से, सब प्रकार से ।
परि+एषि—पूर्णतया व्याप्त कर रहा है ।

तत्+आमः–[तेरे]उस ज्ञानमय आनन्द को ।
अतप्ततनूः–शारीरिक तपशून्य ।
न अश्नुते—नहीं प्राप्त कर सकता ।
शृतासः—[किन्तु] परिपक्व महात्मा ।
तत् वहन्तः—उस आनन्द को धारण करते हुए ।
इत्–ही ।
सम्+आशत—भली प्रकार प्राप्त करते हैं ।

प्रभु की कृपा (रक्षा) सर्वत्र है । बाहर के पदार्थों की कथा

बात ? वह तो हमारे अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त है। वह आनन्दमय है, उसका आनन्द भी सर्वत्र है। किन्तुः—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।

'जिसने शरीर को तप की अग्नि में तपाया नहीं, वह उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता।'

कच्चा घड़ा पानी में डालने से गल जाता है, वह जल नहीं ला सकता। इसी भाँति जिन्होंने शरीर और आत्मा को तप की भट्टी में डालकर इसे पक्का नहीं बनाया, वह प्रभु के आनन्द को नहीं पा सकते। आनन्दप्राप्ति के लिये पहले अपने सारे दोष दूर करने चाहिएं। दोष तप से दूर होते हैं, जैसे मनु महाराज ने कहा है:—

तपसा किल्विषं हन्ति — 'तप दोष का नाश करता है।'

कोई हाथ ऊपर उठाए रखता है और समझता है कि मैं तप कर रहा हूँ। कोई एक टांग पर खड़ा रहकर तप करने की चेष्टा करता है। कोई चारों ओर अग्नि जलाकर सूर्य्य की कड़कती चिलकती धूप में बैठ जाता है और समझता है कि तप कर रहा हूँ। कोई अपने शरीर को तप्त मोहरों से दग़वाने को तप मानता है किन्तु ये तप नहीं। महाभारत के शांति पर्व में आता है—

चतुर्णां ज्वलतां मध्ये यो नरः सूर्य्यपञ्चमः।
तपस्तपति कौन्तेय न तत्पंचतपः स्मृतम्॥

'हे कुन्तिपुत्र! जो चार अग्नियों के बीच में बैठ जाता है और सूर्य्य को पांचवां बनाकर तप करता है, वह तप पंचाग्नि तप नहीं है।'

फिर तप क्या है, इसका उत्तर यहीं दे रखा है—

पञ्चानामिन्द्रियाग्नीनां विषयेन्धनचारिणाम् ।
तेषां तिष्ठति यो मध्ये तद्वै पञ्चतपः स्मृतम् ॥

विषयरूप ईंधन में विचरनेवाले पांच इन्द्रियरूप अग्नियों के मध्य में जो बैठता है, वही पंचाग्नितप मानना चाहिए।

विषय सचमुच आग है। इन जाज्वल्यमान विषय-अग्नियों के बीच में रहता हुआ जो इनसे जलता नहीं, वह तपस्वी है।

वेद में तप की महिमा एवं आवश्यकता का अनेक स्थानों पर वर्णन है। उदाहरणार्थ यहाँ एक स्थल उद्धृत करते हैं—

भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।

कल्याण की कामना करनेवाले, आनन्द प्राप्त ऋषि पहले तप और दीक्षा का अनुष्ठान करते हैं।

जगत् में कौन ऐसा प्राणी है, जो सुख न चाहता हो, अपने भले की कामना न करता हो। कल्याण की कामना करते हुए भी लोग दुःखी देखे जाते हैं। इसका एकमात्र कारण तप का अभाव है। लोग भूल जाते हैं कि—

स्वादो नैव विना स्वेदम् विश्रामो न श्रमं विना ।

बिना पसीने के स्वाद नहीं, बिना परिश्रम के विश्राम नहीं। यदि सुख की चाहना है तो तप की साधना अवश्य करनी चाहिए।

योगदर्शन में तप का फल बतलाया है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः यो० २।४३॥ ।

तप से सारी अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं, अशुद्धियों के विनाश से इन्द्रियों और शरीर को विशेष सिद्धि मिलती है।

शरीर और इन्द्रियों को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए तप अत्यन्त आवश्यक है। तप से सभी कुछ साध्य होता है, इसी भाव से वेद में कहा है—

शृतास इद्धहन्तस्तत्समाशत ।

'तप के द्वारा जो पक गए हैं, वे ही इस आनन्द को धारण कर सकते हैं, वे इसका रस ले सकते हैं।'

अतः आनन्दाभिलाषी जन को चाहिए कि वह काम-क्रोधादि इन्द्रियों के विषय को जीतकर, शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तप के द्वारा ऐहिक और पारलौकिक सुख की सिद्धि प्राप्त करे।

इस मन्त्र में एक उत्तम संकेत किया है। सामान्य जनों तक को यह ज्ञान है कि आनन्द भगवान् से ही मिल सकता है किन्तु उस भगवान् को वे अज्ञानी मक्का, काशी, गया, मथुरा, रामेश्वर आदि तीर्थों में खोजने के लिए भटकते फिरते हैं, परन्तु मनोरथ का मनका नहीं मिलता। वेद कहता है, अरे ! कहाँ भटक रहा है, प्रभु तेरे भीतर है। तेरे अंग-अंग में वह रम रहा है। उसे पाने के लिए, मिलने के लिए बाहर भटकने की अपेक्षा नहीं है, अपने भीतर जहां चाहे उसे देख सकता है।

उसे तू पाले तो तेरे सब मल धुल जाएं, तू पवित्र हो जाए, क्योंकि वह पवित्र है और उस का पवित्र तेज सर्वत्र फैल रहा हैं, अतः तेरे अंग-अंग में भी वह पवित्रता का संचारक विद्यमान है। अतः पापवासना से उन्हें मलिन न कर। सोच, समझ, हृदय के नेत्र खोल !

❀ भगवान् के ज्ञान से मृत्युभय-नाश ❀

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अ० १० । ८ । ४४ ॥

अकाम –[प्रभु] कामना रहित ।
धीरः–धीर, धृतिमान्, सर्वज्ञ ।
अमृतः–अविनाशी, सदामुक्त ।
स्वयंभूः–स्वयंभू, स्वसत्ता में परनिरपेक्ष ।
रसेन तृप्तः–आनन्द से तृप्त ।
कुतः+चन–कहीं से भी ।
ऊनः न–न्यून नहीं ।

तम् एव–उस ही ।
धीरम् अजरम्–धीर, अजर ।
युवानम्–सदा नूतन, जवान ।
आत्मानम्–सर्वव्यापक भगवान् को ।
विद्वान्–जानने वाला ।
मृत्योः–मौत से ।
न बिभाय–नहीं डरता है ।

सभी मनुष्य, क्या ज्ञानी और क्या मूर्ख, मृत्यु से डरते हैं। योगदर्शन में मृत्यु-भय को 'अभिनिवेश' नाम दिया गया है। उसके सम्बन्ध में वहाँ कहा गया है—

स्वरसवाही विदुषापि तथारूढोऽभिनिवेशः ।

यो० २ । ६ ॥

अभिनिवेश अपनी निराली चाल से चलता है, जैसे यह मृत्यु मूर्ख पर सवार है, वैसे ही विद्वान् भी इसके चंगुल में हैं।

इस मंत्र में मृत्यु-भय से बचने का योग बताया गया है। अत्यन्त अचूक उपाय है। कहा है—

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः।

'उस ही को जानकर मृत्यु से नहीं डरता।' मृत्यु क्या है?

मां बच्चे को बैठी दूध पिला रही है। स्तन में दूध समाप्त हो गया है, मां को यह ज्ञात है, बच्चा उसे नहीं जानता। मां बच्चे की तृप्ति करने के लिये उसे दूसरे स्तन में लगाने के लिये वहाँ से हटाती है। अज्ञानी बालक रा पड़ता है। ठीक यही दशा जीवन-मरण की है। जगदम्बा ने जीवरूप वत्स का भोग-मोक्ष के लिए एक शरीर रूपी स्तन से लगा रखा है। शरीर की शक्ति क्षीण हो गई, किन्तु इसकी लालसा नहीं मिटी। इसको तृप्त करने के लिए स्नेहमयी जगदम्बा इसे दूसरे शरीर में भेजने के लिए पहले से हटाती है, इसका नाम मृत्यु है। इससे डरता जीव रोता है और शरीर न छोड़ने की कामना करता है।

मृत्यु के इस रूप को समझने पर मृत्यु-भय नहीं रहता। वेद कहता है—कामना ही मृत्यु का कारण है। अतः निष्काम हो जा। निष्काम होने के लिए निष्काम भगवान् की उपासना कर। वह—

अकामो धीरो अमृतः।

वह कामनारहित है, अतः धीर (चंचलता रहित) और अमृत (मृत्यु बन्धन से रहित) है।

वह स्वयंभू है। अपनी सत्ता में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करता! तू रस चूसता है, उसके पास जा, क्योंकि वह—

रसेन तृप्तः—रस से तृप्त है, रस से भरपूर है।

उपनिषदों में कहा है—

'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।

'भगवान् रस हैं, यह साधक उस रस (भगवान्) को प्राप्त करके आनन्दमय हो जाता है ।' वेद में कहा है—

न ऋते त्वदमृतामादयन्ते ।

'मुक्तजन तेरे बिना आनन्द नहीं प्राप्त करते हैं ।'

नाना प्रकार की सुख-सामग्री रहते हुए भी यदि किसी प्रकार का भय हो तो आनन्द नहीं मिलता । और भय से छुटकारा तभी मिलता है जब भगवान् से मेल हो ।

तृप्ति का कारण यह है कि वह

न कुतश्चनोनः ।

'वह किसी प्रकार से न्यून नहीं है ।'

कामना के कारण रस में विघात पड़ता है । कामना कमी की द्योतक है । भगवान् में किसी प्रकार की ऊनता-न्यूनता (कमी) नहीं है । उसको जानने और उसके उपदिष्ट साधनों पर आचरण करने से मृत्यु का भय भाग जाता है । यजुर्वेद ३१ । १८ में भी कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

मैंने सूर्यसमप्रभ, अंधकार से सर्वथा शून्य, पूर्णपरमात्मा को जान लिया है, और साथ ही जान लिया है कि उस ही को जानकर मृत्यु को पार कर सकता हूँ, इससे अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ।

इस वास्ते उपनिषद्कार ने कहा—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ, अमृतस्यैष सेतुः ।

मु० उ० २।२।५

उस एक व्यापक तत्व को जानो, शेष सब बातें छोड़ दो, वही (आत्मज्ञान) अमृत (मोक्ष) का हेतु है।

इस वास्ते साधक को चाहिये कि वह मृत्यु-भय भगाने के लिए उस अविनाशी, अजर, अमर, सदा एक रस बने रहने वाले भगवान् का ज्ञान प्राप्त करे। भगवान्-ज्ञान से ही मनुष्य का सर्वविध कल्याण होता है।

भगवान् के सम्बन्ध में जो कुछ इस मन्त्र में कहा गया है उसे अवश्य मनन करना चाहिए—

अकामः—मनुष्य नाना कामनाओं से आक्रान्त है किन्तु भगवान् 'अकाम' है क्योंकि वह-

न कुतश्चन ऊनः 'किसी भी प्रकार से न्यून नहीं है' अर्थात् कामनारहित होने के कारण सर्वथा पूर्ण है। वह ऐसा पूर्ण है कि देने पर भी उसमें कोई त्रुटि नहीं होती। औपनिषद् महात्मा कह गए हैं— 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' 'उस पूर्ण से पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही शेष रहता है।'

धीरः जो अकाम हैं, उसमें चंचलता संभव नहीं है। चंचलता का अर्थ है परिणामशीलता अर्थात् जनन-मरण। जनन-मरण से रहित होने के कारण वह अमृत है अर्थात् मृत्यु-रहित है। जो मृत्यु-रहित है, वह जन्म से भी रहित है। अतः वह स्वयंभूः (स्वयंभू=सदाभूः=सदा रहने वाला) है। सदा रहने के कारण वह युवाः (सदा जवान) है। युवा का एक अर्थ है सब में मिला रहता हुआ सबसे असंपृक्त। सबको यथायोग्य मिलाता तथा समय पर पृथक् भी करता है। युवा होने के साथ वह अजर है अर्थात् कभी बूढ़ा नहीं होता। वह आत्मा सदा क्रियाशील

एवं ज्ञानशील है और सर्वत्र व्यापक है। सर्वव्यापक होने के कारण वह रसेन तृप्तः=आनन्दघन है। क्योंकि उसे कुछ प्राप्तव्य तो है नहीं, जिससे उसे विक्षेप क्लेशादि हों।

ऐसे अजर-अमर, रसघन भगवान् को जानना, जानकर उसकी उपासना करना, मृत्युभय से सचमुच तर जाना है।

❀ परमात्मा की खोज ❀

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्
परीत्य सर्व्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्या–
त्मनात्मानमभि संविवेश ॥

य० ३२ । ११

भूतानि–सब भूतों की ।
परि+इत्य–पूर्ण रूप से जांच कर के ।
लोकान्–सब लोकों, कर्म्म फल-भोगों की ।
परि+इत्य–परीक्षा करके ।
च सर्वाः–और सब ।
प्रदिशः दिशः–उपदिशाओं और दिशाओं की अथवा देश-देशान्तर की ।

परि+इत्य–परीक्षा करके ।
ऋतस्य–ऋत, एक रस प्रवाहित होने वाले सत्य के ।
प्रथमजाम्–प्रथम उत्पादक के भीतर ।
उपस्थाय–उपस्थित होकर ।
आत्मना–आत्मा के द्वारा ।
आत्मानम्-व्यापक परमात्मा में ।
अभिसंविवेश–मैं प्रविष्ट हो गया हूँ ।

प्रभु के दर्शन बिना मृत्यु-भय नहीं छूट सकता । अतः भगवान् के अवश्य दर्शन करने चाहिएं । संसार के एक-एक पदार्थ को ईश्वर समझकर उसके पास गए । किन्तु वहाँ रस न था । प्रभु की

पहचान वेद ने बताई थी—रसेन तृप्तः=रस से तृप्त। ये रस से रीते (खाली) मिले। इनको प्रभु समझना साधक की भूल थी, वह इन रस-रिक्त पदार्थों से विरक्त हो जाता है, उसका चित्त ऊब जाता है।

परीक्ष्य लोकान् कर्म्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। (मुण्डकोप० १। २। १२)।

"कर्म्म से संचित लोकों (भोगों) की परीक्षा करके ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) दुःखी हो उठता है और कहता है, 'विनाशी पदार्थों से वह अविनाशी नहीं मिल सकता'।"

किन्तु इस खोज के लिए देश-देशान्तर घूमने और सब भूतों के निरीक्षण से उसे परतत्त्व का कुछ-कुछ आभास मिलता है। वह उसका उपस्थान करता है, निकट होकर उसे अपनाने का यत्न करता है। तब उसे पता लगता है कि—

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मु० २।२।७

अन्तरात्मा इस हृदयाकाशरूपी दिव्य ब्रह्मपुर में विराजमान है। जिस की खोज को बाहर भटक रहे थे, वह तो अपने अन्दर बैठा है। अतः—

आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश।

'वह आत्मा के द्वारा उस परमात्मा में प्रवेश करता है।'

शरीर इंद्रियादिक को छोड़कर आत्मा को उसमें लगाने का यत्न करता है।

उपनिषद् ने कहा है—

स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्—॥ मुण्डको० २। २।६

वह अन्तरात्मा अनेक प्रकार से प्रकट होता हुआ अन्दर

विचर रहा है। 'ओम्' पद के द्वारा उसका ध्यान करो।

भगवान् को—अन्तरात्मा को पाना है, तो 'ओम्' के द्वारा उसका स्मरण करो। वेद ने भी कहा है—

ओम् स्मर=ओम् को सिमर।

भगवान् के अनन्त नाम हैं क्योंकि भगवान् के गुण अनन्त हैं। एक-एक गुण का प्रकाशक एक-एक नाम है। उसका निजी नाम 'ओम्' है। इस में सीधी-साधी युक्ति यह है कि मनुष्य-तन ही ऐसा है जिस में रहकर आत्मा-परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। अतः परमात्मा की प्राप्ति का साधन ऐसा होना चाहिए जिसे असमर्थ से असमर्थ मनुष्य भी प्रयोग में ला सके। यदि मनुष्य-जन्म पाकर अङ्ग आदि की विकलता के कारण वह परमेश्वर को पाने के अयोग्य हो जाए, तो परमेश्वर का उसे नरतन देना व्यर्थ हो जाए। अतः परमात्मा के प्रणिधान का साधन उसका नाम ऐसा होना चाहिए, जिसे गूंगा तक भी ले सके। गूंगा गॉड (God), रहीम, रहमान, भगवान् आदि पवित्र नामों का उच्चारण नहीं कर सकता, किन्तु 'ओम्' पद का उच्चारण वह भी कर सकता है, अतः 'ओम्' परमात्मा का निजी नाम है। इस 'ओम्' की आराधना के लिए किसी बाह्य करण की आवश्यकता नहीं। कहा भी है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा व।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

मुण्डको० ३।१।८

भगवान् का ज्ञान न आँख से होता है, न वाणी से, न ही

अन्य इन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान होता है। कोरे तप और थोथे कर्म से उसका बोध नहीं होता। ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करके जो उस निर्विकार का ध्यान करता है वह उसके दर्शन कर पाता है।

तलवकार ऋषि ने भी यही बात कही है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।

वहाँ आँख नहीं जा पाती, न वाणी की वहाँ गति है। वह तो मन की पहुँच से भी बाहर है।

अतः

आत्मनात्मानमभिसंविवेश।

'मैं अपने आत्मा के द्वारा उस अन्तरात्मा में प्रवेश करता हूँ।'

आत्मा के द्वारा अन्तरात्मा में प्रवेश तभी हो सकेगा, जब बाह्य विषयों से आत्मा पराङ्मुख हो जाए, उनसे मुख मोड़ ले। अज्ञान के कारण वह अपने भीतर विद्यमान् आनन्दसागर, परम पवित्र रससरोवर में डुबकी न लगाकर बाह्य गन्दभरे तालों में गोते खा रहा है। दोनों में विवेक के लिए इससे पहले 'ऋत का प्रथम प्रवर्त्तक' वेद, का अभ्यास करना होगा। तैत्तिरीय लोग कह गए हैं—नावेदविन्मनुतेतं बृहन्तम् 'वेदज्ञानविहीन मनुष्य उस महान् भगवान् का मनन (चिन्तन) भजन नहीं कर सकता।' अर्थात् जिसकी आराधना करनी है उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा उसके आराधन के सच्चे विधान का ज्ञान होना अतीव आवश्यक है। उसका यथार्थ ज्ञान विषय-विष से बचाकर ब्रह्मामृत की ओर प्रेरित करता है। ब्रह्मामृत का सरोवर अपनी आत्मा में बह रहा है, अतः अन्दर की ओर जाना होता है। उधर जाने की भावना के जागने पर ये बाह्य साथी ही छूट जाते हैं।

❀ प्रभु-प्राप्ति का उपाय–१ ❀

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥

आ० ४।१४।४।

ये सुविद्वांसः—जो उत्तम ज्ञानी
विश्वत+धारम्–सब ओर प्रवाह वाले ।
यज्ञम्–यज्ञ(श्रेष्ठतम कर्म्म) को ।
वितेनिरे–करते हैं, फैलाते हैं।
स्वः+यन्तः–मोक्ष को जाते हुए

न अपेक्षन्ते–[वे अन्य किसी पदार्थ की] अपेक्षा नहीं करते ।
द्याम्–[वरन्] द्यौ [और]
रोदसी-पृथिवी और अन्तरिक्ष पर
आ रोहन्ति–पूरी तरह आरूढ़ होते हैं ।

यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि यज्ञ वैदिक धर्म्म का प्राण है। वेद सारा का सारा यज्ञ का विधान करता है, किन्तु यज्ञ का भाव वह नहीं, जो हमारे पौराणिक भाइयों या दूसरों के हृदय में है। यज्ञ तो जीवनपद्धति का नाम है।

स्वयं वेद ने कहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि
धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ॥

(य० ३१।१६)

ध्यानी लोग यज्ञ के द्वारा यज्ञ का यजन करते हैं, यही मुख्य धर्म्म है।

धर्म्म का अर्थ है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्म्मः।

'जिससे लोकोन्नति एवं मुक्ति की सिद्धि हो वह धर्म्म है।'

भावार्थ यह कि जीवन को ऐसा बनाना जिससे अभ्युदय (चौमुखी उन्नति) हो। जब ऐसा होगा, तो वह यज्ञ बन जाएगा। हाँ, उस यज्ञ में भी यज्ञ की भावना बनी रहनी चाहिए। इस भाव को वेद में इन शब्दों में कहा है—

यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।

'यज्ञ यज्ञ से सफल हो।'

अर्थात् धर्म्म करने के लिए अधर्म का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। धर्म्मानुष्ठान के लिए जब अधर्म्म का अवलम्बन किया जाएगा, तो वह अधर्म्म बन जाएगा। अधर्म्म का फल धर्म या सुख कभी नहीं हो सकता, अतः जीवन को यज्ञमय बनाना चाहिए।

बहुत थोड़े लोग इस तत्व को जानते हैं।

एक धनी अपनी बिरादरी वालों की दुरवस्था देखता है! उस दुःखदायिनी अवस्था से उसके चित्त में चोट लगती है। अपनी उस कसक को मिटाने के लिए वह कोई कारखाना खोल देता है और सावधानता से इस बात को देखता है कि उसमें उसकी बिरादरी के अतिरिक्त और कोई लाभ न उठा पाए। उसका यह कार्य्य शुभ है। चूँकि उसने धन का दूसरों के लिए त्याग किया है, अतः यह यज्ञ भी है। किन्तु यह विश्वतोधार यज्ञ नहीं वरन् एकतोधार यज्ञ है। इस यज्ञ से निस्सन्देह, एक वर्ग का उपकार होता है, किन्तु इससे विद्वेष उत्पन्न होने की संभावना रहती है,

और उससे उस यज्ञ के दूषित होने की संभावना भी रहती है। अतः ज्ञानी लोग यज्ञ के रहस्य को समझकर सर्वभूतहित की कामना से प्रवृत्त होकर

यज्ञ......विश्वतोधारं...वितेनिरे ।

'विश्वाधार यज्ञ का विस्तार करते हैं।'

इसका एक कारण है–वेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञ का एक नाम विष्णु है। विष्णु का अर्थ है—व्यापक। व्यापक सर्वदेशी होता है, एकदेशी नहीं। एकदेशीपन में संकोच है; सर्वदेशीयता में विस्तार है। तंगी से सभी तंग होते हैं। विस्तार से सभी प्यार करते हैं। अतः यज्ञ का विश्वतोधार होना स्वाभाविक ही है।

ऐसे ज्ञानियों के मन से अपने-पराये का भेद नष्ट हो जाता है। उनका सिद्धान्त है—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।

'यह अपना है, यह पराया है, ऐसा विचार क्षुद्रहृदय वालों का होता है।'

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।

'उदाराशय महाशय के लिए तो सारा संसार निज परिवार है।'

अर्थात् वे स्व-पर-निरपेक्ष, होकर सबका हित साधते हैं। पापियों तक का पोषण करना उनका आदर्श है।

कई लोग धूर्ततावश अपने आपको उदार सिद्ध करने के लिए परायों की तो दानादि के द्वारा सहायता कर देते हैं, किन्तु अपनों की नहीं करते। वे दम्भी हैं क्योंकि उनके दान देने में कीर्ति की लालसा छिपी रहती है। आत्मीयों को दानादि देने से कीर्ति की सम्भावना कम होती है। ऐसे लोग याज्ञिक नहीं हैं, वे तो पणी हैं, व्यापारी हैं। ऐसा व्यापारी कभी सफल नहीं होता।

समर्थ होने पर जो कुछ भी नहीं देता, वह कृपण है।

जिसका यज्ञ सर्वतोधार है उसका सर्वत्र आदर होता है। प्रभु अपने ऐसे अनुरागी के लिए परमसुख—स्वः (मोक्षानंद) का द्वार खोल देते हैं। निष्काम भाव से विश्वतोधार यज्ञ का विस्तार करनेवाले ऐसे महात्मा को मुक्ति-प्राप्ति के लिए अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं हुआ करती। वह तो अनायास ही शरीराध्यास से ऊपर उठकर अन्तःकरण को देखकर, उससे भी ऊपर उठकर, द्यौ (प्रकाशमय आत्मा) को प्राप्त कर लेता है। इस भाव को मंत्र के दूसरे चरण में व्यक्त किया गया है—

आ द्यां रोहन्ति रोदसी।

अथवा यों कह सकते हैं कि उसे मुक्तिप्राप्ति के साधन अनायास प्राप्त हो जाते हैं। वह पृथ्वी (कर्म्म विस्तार), अंतरिक्ष (अंतःकरण के प्रसाद)तथा द्यौ (आत्मा)के साक्षात्कार में सहज से आरूढ़ रहता है—

आ द्यां रोहन्ति रोदसी।

अथर्ववेद ४।१४।३ में इस पृथ्वी आदि पर आरूढ़ होने की बात स्पष्ट करके कही गई है—

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्। दिवमारुहम। दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरयामहम्।

पृथ्वी की पीठ से, अर्थात् बहिर्मुख दशा से उठकर मैं अंतरिक्ष=अंदर की अवस्था को आरूढ़ हुआ हूँ, अर्थात् मेरी वृत्तियाँ अंतर्मुख हुई हैं, और अंतर्मुख वृत्ति से मैं द्यौः=ज्ञानलोक को प्राप्त हुआ हूँ (द्यौ=ज्ञान की अवस्था=दुःखाभास की दशा); देदीप्यमान आनंद को मैंने प्राप्त किया है।

साधारण साधकों को ये सीढ़ियाँ अवश्य चढ़नी होती हैं, किंतु जो सर्वतोधार यज्ञ का विस्तार करते हैं, वे—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते

'मुक्ति की प्राप्ति के लिए किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करते।'

———

❀ प्रभु-प्राप्ति का उपाय–२ ❀

–योगसाधन–

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रेरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥
अ० १०। २। २६॥

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥
अ० १०। २। २७

मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः–मस्तिष्क से ऊपर रहने वाला।
पवमानः अथर्वा–पवित्र [अतएव] अचल योगी।
अस्य मूर्धानम्–इसके [अपने] मूर्धा को [मन को= दिमाग़ को]
च हृदयम्–और हृदय को।
संसीव्य—एकरस सीकर।
देवकोशः–देव-कोश [दिव्य खजाना] है।
प्राणः–प्राण।
तत् शिरः–उस सिर की [शीर्षस्थानीय अभ्यास की]।
यत्–यतः [प्राण को]।
शीर्षतः अधि–सिर के ऊपर को।
प्रेरयत्–प्रेरित करता है।
अथर्वणः–निश्चल योगी का।
तत् शिरः–वह सिर,शीर्षस्थानीय अभ्यास।
समुब्जितः—इकट्ठा किया हुआ
अभि + रक्षति–सब तरह रक्षा करता है।
अथो अन्नम्–और अन्न भोजन।
मनः–[और] मन [भी रक्षा करता है।]

इन दोनों मन्त्रों में संक्षेप से योग की विधि का उपदेश है। योग के लिए यहाँ कई आवश्यक निर्देश दिए गए हैं—

१. मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयम्

'दिल और दिमाग़ को सीकर अर्थात् हृदय और मन की एकता होनी चाहिए ।'

यदि मन कुछ और सोचे और हार्दिक रुचि किसी अन्य ओर हो तो योग हो ही नहीं सकता ।

२. अथर्वा=निश्चलता ।

योग-साधक को चंचलता का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। अथर्वा का एक भाव—संशय-रहित है । योगमार्ग में चलने वाले को इस प्रकार के संशय कि मैं सफल होऊँगा या नहीं,सर्वथा त्याग देने चाहिएं । योग के विघ्नों में पतंजलि जी ने 'संशय' को भी एक विघ्न माना है । संशय से बहुत हानि होती है । बहुधा सर्वनाश हो जाता है । जैसा कि कहा गया है—

संशयात्मा विनश्यति । 'संशयालु नष्ट हो जाता है ।'

अथर्वा का एक भाव यह भी है कि साधनकाल में योगाभ्यासी का शरीर निष्कम्प रहना चाहिए। आसन अडोल होना चाहिए ।

३. पवमानः=पवित्रता ।

साधक को अंतरंग और बहिरंग शौच में सदा तत्पर रहना चाहिए। बाह्य-शुद्धि स्नानादि साधनों से करते रहना चाहिए,और अन्दर की शुद्धि के लिए काम, क्रोधादि को विचार से हटाते रहना चाहिए ।

४. मस्तिष्कादूर्ध्वः । मस्तिक से ऊपर, पृथक्

आत्मा के सम्बन्ध में उसे यह दृढ़ धारणा होनी चाहिए कि

आत्मा शरीर ही नहीं वरन् मन से भी पृथक् है और वह मस्तिष्क से ऊपर है, अर्थात् मस्तिष्क का संचालक है। जब वह मस्तिष्क का संचालक है तब शरीर, ज्ञानेन्द्रिय और कर्म्मेन्द्रिय का तो सुतरां स्वामी ही है।

५. प्रेरयत् अधिशीर्ष । 'प्राण और प्राण-वृत्तियों को सिर से ऊपर की ओर प्रेरे।'

धारणा—ध्यान के अभ्यास, अथवा प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणों और प्राणों की वृत्ति को ऊपर ले जाए, अर्थात् ब्रह्मरंध्र में पहुँचाए।

६. तत्प्राणो अभिरक्षति—'उसको प्राण रक्षा करता है।' अर्थात् ध्यान या प्राणायाम के कारण जब प्राण-वृत्ति रुक जाए तो घबराना नहीं चाहिए। उस दशा में प्राण ही रक्षक होता है।

७. अन्नमथो मनः । 'अन्न और मन रक्षा करते है।' अर्थात योगी और योगाभ्यासी तथा योगाभिलाषी को अपने अन्न के सम्बन्ध में बहुत सावधान रहना चाहिए। खट्टा, मीठा, तीता आदि उत्तेजक पदार्थों के सेवन से बचना चाहिए। मद्य, मांस आदि तामस-भोजन बुद्धि का लोप कर देते हैं। कोई भी मांसाहारी या शराबी योगाभ्यास नहीं कर सकता।

अन्न का मन पर प्रभाव पड़ता है इसी प्रकार शुद्ध मन भी रक्षा करता है। यदि मन में अशुभ विचार और पाप हों तो भी योगाभ्यास नहीं हो सकता। अतः योगी को अन्न के लिए रसना और मन पर कड़ा नियन्त्रण रखना चाहिए। मन की पवित्रता का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

अन्न का एक अर्थ 'अन्नमय कोश' है। अन्नमयकोश स्थूल शरीरमात्र है। उसकी अपेक्षा 'मनोमय कोश' सूक्ष्म है। अन्नमय

तथा मनोमय कोशों का संचालन प्राणमय कोश के द्वारा होता है। वह मनोमय की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। मनोमय की अपेक्षा विज्ञानमय है, उसको यहां 'शिरः' शब्द से कहा गया है कि शिर प्राणों का आधार है। प्राण की गति पर सावधानता से दृष्टि डालो तो प्राण को ठोकर सिर में लगती प्रतीत होती है, अर्थात् प्राण का एक प्रकार से वह मूल खूँटा है। इन चार कोशों का विवेक करने से पांचवें आनन्दमय कोश का ज्ञान तथा भाव होने लगता है। वेद में अनेक स्थानों में उसे मधुकोश कहा गया है इस मन्त्र में उसे 'देवकोश' कहा गया है। और इसे 'अधिशीर्षतः' कहकर विज्ञानमय कोश से ऊपर बताया गया है। इससे आत्मा पृथक् है, उसमें परमात्मा के दर्शन होते हैं, यही मुक्ति का साधन है।

इस प्रकार अन्न, मन और प्राण से सुसाधित सुरक्षित एवं सुसंस्कृत—

देवकोशः समुब्जितः – 'देवकोश संचित हुआ है।'

अर्थात् भगवान् का बोध कराने वाला कोश इकट्ठा हुआ है।

इस योग-साधन से परमात्मा की प्राप्ति होती है।

* प्राणोपासना का फल *

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः ॥

अ० ११ । ४ । १६ ॥

प्राण यथा—हे प्राण ! जैसे
इमाः सर्वाः प्रजाः-ये सब प्रजाएं।
तुभ्यं—तेरे लिए।
बलिहृतः—बलि कर देने वाली होती हैं।

एवा—इसी तरह।
यः सुश्रवः—जो उत्तम श्रोता
त्वा शृणवत्-तुझ को सुनता है
तस्मै बलिम्—उसके लिए बलि
हरान्—देता है।

प्राण का अर्थ है जीवन-साधना। आत्मा जब शरीर में आता है, तब उसके साथ प्राण भी वहाँ डेरा आ लगाते हैं। प्राण के अन्दर आने और बाहर जाने से शरीर में आत्मसत्ता का बोध होता है। आत्मा शरीर को छोड़कर चला जाए, तो प्राण भी शरीर में नहीं रहते। आत्मा अभौतिक है, उसकी भूख को भौतिक पदार्थ नहीं मिटा सकते : फिर यह हम जो खाते-पीते हैं, पृथ्वी से अन्न, फल, मेवे आदि के रूप में 'कर' लेते हैं, जल दूध आदि पेय पदार्थों का पान करते हैं, आग तापते हैं, कम्बल ओढ़ते हैं, यह सब किस के लिए ? वेद उत्तर देता है—

प्राण बलिहृस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।

'हे प्राण ! ये आग, हवा, पानी, पृथ्वी रूपी सारी प्रजाएं तुझे कर दे रही हैं।'

इसका प्रमाण यह है कि खाने-पीने से शरीर पुष्ट होता है, इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं, प्राणशक्ति दृढ़ होती है। खाने या न खाने से आत्मा में वृद्धि या ह्रास नहीं होता। यदि खाना-पीना आत्मा के वृद्धि-ह्रास का कारण होते, तो सारे पेटू आत्मिक उन्नति वाले होते, किन्तु पेटू महानुभाव तो केवल राक्षसधर्म का पालन करते हैं, खाते, पीते मौज उड़ाते हैं। इस वास्ते खाना-पीना वास्तव में प्राण के लिये है। प्राणवायु और पेट की अग्नि मिल कर शरीरस्थ धातुओं को जब क्षीण करते हैं, उस समय भूख लगती है, तब अन्न आदि के द्वारा उस क्षीणता को मिटाना होता है। इसी प्रकार जब वे शरीरस्थ तत्व जल को सुखाते हैं, तब प्यास लगती है, उसे मिटाने के लिये पानी का सेवन करना होता है। यह भोजन और अन्नपान प्राण के प्रति कर-प्रदान है।

किन्तु प्राण का कार्य केवल अन्न-पान लेना और उसे जीर्ण करना और फिर उसके लिए अपेक्षा करना ही नहीं है। भोजन और पान के समय यदि सूक्ष्मता से निरीक्षण करें तो प्राण रुक जाता है, श्वास की नाली बन्द हो जाती है। उस समय यदि श्वास की नाली खुली रह जाए, तो अन्न या जल श्वास की नाली में चला जाता है और बहुत बेचैनी हो जाती है। वह बेचैनी तब तक नहीं मिटती, जब तक श्वासप्रणाली में गया अन्न या जल बाहर न हो जाए। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ जीवन प्राण के आश्रय से है, वहाँ जीवन के लिये प्राण-निरोध भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि प्राण की क्रिया न रुके, तो प्राण बलि नहीं ले सकता।

नीचे से भार आदि उठाते समय भी प्राण अगत्या रोकने पड़ते हैं, यदि उस समय प्राण बाहर निकल जाएं तो भार हाथों से गिर पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि प्राण-निरोध में बड़ा बल है।

कदाचित् इसी कारण मनु जी ने कहा है—

तपो न प्राणायामात्परम्—'प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है।'

प्राण के इन और इसी प्रकार के अन्य रहस्यों को जो सुनता है, वह 'सुश्रवः' है। सुनना उसी का फलवान है, जो प्राण की इन शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

तस्मै बलिं हरान्—'उसे प्राण भी 'कर' देता है।'

कर वही दिया करते हैं, जो किसी के आधीन होते हैं। अर्थात् प्राण-ज्ञान प्राप्त करके जो उसके अनुसार अनुष्ठान करते हैं, प्राण उनके आधीन हो जाता है। अतः प्राण को वश में करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम का फल योग-दर्शन में इस प्रकार लिखा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। यो० २।५२॥

प्राणायाम से अज्ञान का परदा नष्ट हो जाता है, और आत्म-ज्योति खुल जाती है।

प्राणायाम से होने वाले इस फल की सिद्धि मनु जी एक दृष्टांत द्वारा बताते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥
६।७१

जैसे धौंकाई (अग्नि में तपाई) जाती हुई धातुओं के दोष (मल) जल जाते हैं, इसी प्रकार प्राण के निग्रह करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं।'

प्राणवश करते हुए भी धौंकनी की भाँति श्वास का संचालन करना होता है।

इसीलिए मनु ने बताया—

प्राणायामैर्दहेद् दोषान् । मनु० ६।७२॥

प्राणायाम के द्वारा शारीरिक और मानसिक दोष दूर करने चाहिएँ।

❀ प्राण की सहायता से पाप का जीतना ❀

वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा
विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्व-
थेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥

ऋ० ८ । ९६ । ७

विश्वे देवाः—सम्पूर्ण दिव्य गुण
ये सखायः-जो [पहले] सखा थे ।
वृत्रस्य श्वसथात्–[वे] पाप के
श्वास से ।
ईषमाणाः—भयभीत होते हुए ।
त्वाम् अजहुः—तुझ को छोड़
जाते हैं ।
इन्द्र–[अतः] हे इन्द्र, ऐश्वर्य्या-
भिलाषिन् जीव !
मरुद्भिः-मरुतों = प्राणों के साथ।
ते सख्यम् अस्तु–तेरा सख्य हो ।
अथ–तो ।
इमाः विश्वा–इन सारे
पृतनाः—उपद्रवों, फितनों को
जयासि–जीत सके ।

आत्मा के अन्दर अनेक दिव्यगुण हैं । दया, क्षमा, धृति, शौच, संयम, अहिंसा, सत्य, दम आदि नाना गुण हैं । जब तक आत्मा में पाप का प्रवेश नहीं होता, ये गुण निरन्तर बढ़ते रहते हैं । धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष का चतुर्वर्ग भी पवित्र आत्मा में अवि-रोध भावों के साथ रहता है । चारों—

गुणानुरागादिव सख्यमायिवानिव ।

मानों, गुणों के प्रेम के कारण परस्पर मित्र बने हुए हैं। देवों का वृत्र के साथ सदा संग्राम रहा करता है। 'वृत्र' आच्छादक पाप को कहते हैं। पाप सद्गुणों का विरोध करता है, सद्गुण पाप को मार भगाने का यत्न करते हैं। इस प्रकार आत्मा में द्वन्द्व छिड़ जाता है। जब आत्मा वृत्र की ओर अधिक झुक जाता है, तब वृत्र के श्वास के डर के मारे—

विश्वेदेवा अजहुर्ये सखायः।

'सारे दिव्यगुण जो पहले आत्मा के सखा थे, आत्मा को छोड़ जाते हैं।'

पाप की वृद्धि के साथ सब देव (दिव्यगुण) नष्ट हो जाते हैं। दिव्यगुणों के नाश के साथ आत्मा का क्या रह जाएगा ?

यदि आत्मा की तथा दिव्यगुणों की रक्षा करनी है, तो पाप को मार भगाओ। पाप को मार भगाने के लिए—

मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्तु।

'प्राणों के साथ, हे इन्द्र! तेरा सख्य होना चाहिए।'

प्राणों के साथ सख्य का अर्थ है, प्राण आत्मा के अनुकूल चलें। इस समय अवस्था यह है कि साधारण मनुष्यों को अपने श्वास-प्रश्वास की गति का कोई ज्ञान नहीं है। वे परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार अन्दर आते और बाहर जाते हैं। आत्मा का शरीर में वास होने के कारण वे शरीर में बन्धे अवश्य हैं, किन्तु आत्मा की अनुकूलता से गति नहीं करते। यदि प्राण आत्मा की अनुकूलता से गति करें, तो शरीर में कभी रोग हो ही न। प्राण यदि आत्मा के वश में हो, तो मन और इन्द्रिय भी आत्मा के वश में ही रहें। यदि मन वश में आ जाए तो इन्द्रिय अपने-आप वश में हो जाएँ, क्योंकि वे तो हैं ही मन के अधीन। प्राण के वश में होने से मन का वश में होना अनुभव से सिद्ध होता है।

अतः वेद कहता है—

अथेमा विश्वाः पृतना जयासि

'तब इन सब उपद्रवों को जीत सकेगा।'

पाप से जितने उपद्रव पैदा होते हैं उन सब का नाश प्राण की (मैत्री) अनुकूलता से हो जाता है। इसका एक हेतु है। प्राण सबका स्वामी है, जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे

'प्राण को नमस्कार; जिसके वश में यह सब कुछ है।'

जिसके वश में सब कुछ है, उसके सर्वस्वामी होने में सन्देह ही क्या है। अतः इस सर्वस्वामी प्राण की मैत्री अवश्य करनी चाहिए।

प्राण की मैत्री प्राणायाम-साधन से ही होती है। प्राणायाम (प्राण-निरोध) न करने से हानि होती है। जैसा कि अथर्व० ११।३ में कहा गया है।

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥५४॥
न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥५५॥
न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥५६॥

जो इस तत्व (ब्रह्मज्ञान) प्राप्ति के जाननेवाले का शिष्य होता है वह प्राण का निरोध [प्राणायाम] करता है। यदि प्राण-निरोध [प्राणायाम] नहीं करता है, तो सारी आयु की हानि उठाता है। यदि आयु की हानि नहीं उठाता, तो प्राण इसे बुढ़ापे से पूर्व छोड़ जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि प्राणायाम न करने से मनुष्य की हानि होती है। प्राणायाम के बिना शरीर में वीर्य्य-रक्षा सम्भव नहीं है। वीर्य, जीवन का सार है, जीवन का आधार है। इस जीवनाधार का आधार प्राणायाम है। अतः सिद्ध हुआ कि प्राणायाम का अभ्यास दीर्घजीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

प्राणायाम का जो विवरण वेद में दिया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि प्राणायाम का अर्थ है प्राण को(जीवन-शक्ति)को अपने वश में करना। इस प्राणशक्ति को वश में करने से जहाँ आयु दीर्घ होती है वहां मृत्यु के समय कोई क्लेश नहीं होता। मृत्यु को समीप अनुभव करता हुआ आत्मा प्राण को अनायास बाहर कर देता है। ऐसे महात्मा को मृत्युंजय कहते हैं।

प्राणायाम के अभ्यास से पाप के नाश की चर्चा ४९ वें प्रवचन में की जा चुकी है। आत्मा को कई प्रकार के पृतनाओं (उपद्रवों) से सामना करना पड़ता है। प्राण के आश्रय ही जीवन-क्रिया होती है, यह गत प्रवचन में कहा जा चुका है। यदि प्राण की क्रिया उचित रीति से न हो तो खांसी, जुकाम (प्रतिश्याय), दमा, राजयक्ष्मा आदि नानाविध रोग प्राणी को आ घेरते हैं। अतः शरीर को रोगों से बचाने के लिए प्राण-नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। प्राण तथा मन का गहरा सम्बन्ध है, मन की चंचलता दूर करने के लिए प्राण का निरोध करना नितरां आवश्यक है। अतः मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए प्राण का संयमन अनिवार्य्य हो जाता है। आत्मा तथा प्राण का सम्बन्ध सर्वजनप्रत्यक्ष है। आत्मा के बिना प्राण देह में ठहर नहीं सकते तथा प्राणचेष्टा के अभाव में शरीर में आत्मा की सत्ता का कोई अबाध्य प्रमाण नहीं मिलता। मन तथा इन्द्रियों के साथ मिलकर बहिर्मुख आत्मा को अन्तर्मुख करने के लिए, अपना आपा देखने के लिए, प्राणनिग्रह एक उत्तम साधन है। इस प्रकार विचारने से सिद्ध होता है कि शारीरिक, मानसिक दोषों को दूर करने के लिए प्राण को वश में करना अत्यन्त हितकारी है, अतः वेद का यह कहना है कि—

मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि

अत्यन्त युक्तियुक्त है।

❀ उपासना का साधन एवं समय ❀

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्य्यात्पुरोषसः । यद्जः प्रथमं संबभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ॥

अ० १० । ७ । ३१

सूर्य्यात् पुरा—सूर्य्यास्त से पूर्व ।
उषसः पुरा—उषा से पूर्व ।
नाम—नमनीय परमेश्वर को ।
नाम्ना—[उसके ओंकार] नाम के द्वारा ।
जोहवीति—[साधक] बार-बार पुकारता है ।
अजः यत्—अजन्मा जो ।

प्रथमं संबभूव—पहले समता से युक्त होता है ।
सः ह तत्—वह सचमुच उस
स्वराज्यम् इयाय—स्वराज्य को प्राप्त करता है ।
यस्मात् परम्—जिस से श्रेष्ठ
अन्यत् भूतम्—दूसरा तत्व ।
न अस्ति—नहीं है ।

भगवान् का नाम स्मरण करने का समय तथा विधि एवं फल इस मन्त्र में वर्णित किए गए हैं ।

प्रभु का नाम उषा से पूर्व और सूर्य्यास्त से पूर्व लेना चाहिए । प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त और सायं सन्ध्या ये दोनों ऐसे समय हैं जब कि बाह्य प्रकृति समता का रूप धारण कर रही होती है । शरीर के अन्दर प्राण भी समता की ओर झुक रहे होते हैं । अभ्यासियों का अनुभव है कि ध्यान उस समय ठीक लगता है जब सूर्य्य-स्वर (दाहिनी नासिका का श्वास) और चन्द्र-स्वर

(बायीं नासिका का श्वास) दोनों स्वर चल रहे हों। इन दोनों के एक साथ चलने में समता और शान्ति की वृद्धि होती है। यदि सूर्यस्वर चल रहा हो, तो शरीर में उष्णता अधिक हो जाती है, यदि चन्द्रस्वर चलता हो, तो शीत बढ़ जाती है। दोनों चलते हों तो न शीत का कोप होता है और न गरमी प्रचण्ड होती है। शरीर में समता होती है। मन में भी शान्ति की वृद्धि हो रही होती है। अतः समता-प्राप्ति के लिए यह समय अत्यन्त उपयुक्त है।

ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में कहा है- -

उपत्वोग्ने दिवेदिवे दोषवस्तर्धिया वयम्।

नमो भरन्त एमसि।

(ऋ० १।१।८)

हे सर्वोन्नतिसाधक परमेश्वर! हम प्रतिदिन नम्रता धारण करते हुए सायं प्रातः तेरे पास आते हैं अर्थात् तेरी उपासना करते हैं। पास जाना, पास बैठना ही उपासना है। उपासना का समय प्रातः सायं दो काल ही बतलाए गए हैं।

दूसरी बात जो इस मन्त्र में कही गई है, वह है भगवान् का किसी नाम के द्वारा ध्यान-चिन्तन करना—

नाम नाम्ना जोहवीति।

'उस नमनीय भगवान् को नाम से स्मरण करता है।'

यजुर्वेद को समाप्त करते हुए भगवान् ने अपना नाम 'ओम्' बतलाया है—

ओ३म् खं ब्रह्म।

परमात्मा का नाम 'ओ३म्' है, यह आकाश की भाँति व्यापक और सबसे महान् है।

योगदर्शन में भी परमात्मा का नाम 'प्रणव'=ओ३म बताया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः । (यो० १।२७)

उसका (ईश्वर का) वाचक (नाम) प्रणव (ओ३म्) है। नाम नामी का सम्बन्ध नित्य होता है। उपनिषद् में 'ओम्' के द्वारा ध्यान करने का निम्नलिखित प्रकार बतलाया गया है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशिता सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

मुण्डको० २।२।३।

उपनिषद्-विद्या का बतलाया महान् अस्त्र धनुष्य लो और उसमें उपासना का तीक्ष्ण तीर जोड़ो। तन्मय चित्त से झुको और उस अविनाशी प्रभु को लक्ष्य बनाओ।

इस रूपक को अगले वाक्य में उपनिषद्कार ने खोलकर कहा है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ २।२।४

प्रणव(ओ३म्) पद धनुष्य है। आत्मा तीर है। ब्रह्म उसका लक्ष्य है। सावधान होकर निशाना लगाना चाहिए। तीर की भांति तन्मय होना चाहिए। अर्थात् प्राण के साथ 'ओम्' को मिला दे, और आत्मा को उस 'ओम्' अक्षर के द्वारा परमात्मा से जा मिलाए।

इस प्रकार जो आत्मा समता का साधन करता है, उसे आत्मराज्य मिलता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है।

स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ।

'स्वराज्य' सच्चा स्वराज्य आत्मराज्य है। आज भौतिक स्वराज्य तो प्राप्त है, किन्तु इस आत्मिक स्वराज्य की चर्चा करने का अवकाश किसे है। आत्मराज्य कैसे मिले? बड़े-बड़े तथाकथित भक्तराज भी आत्मा की सत्ता का अपलाप करते दीखते हैं। जिसको आत्मा की सत्ता पर आस्था होती है, वह दूसरों में भी आत्मा की सत्ता, ननुनच के बिना, स्वीकार करता है। दूसरों को आत्मावाला मानने पर उसे अपना व्यवहार कुछ विशेष प्रकार का बनाना पड़ता है। अब वह दूसरों के साथ अन्याय करते हुए विचारता है यदि यह व्यवहार मेरे साथ भी किया जाए, तो……। इस विचार के आते ही वह दूसरों के साथ धोखा, अन्याय आदि करने से रुक जाता है। आज के भक्तजन कहलाने वाले जन चोरबाजारी करते हैं, कम तोलते हैं, कम नापते हैं। और ऐसा करते हुए उन्हें किसी प्रकार की झिझक नहीं होती।

बात यह है कि संसार के अधिक जन प्रत्यक्षवादी हैं। पेट प्रत्यक्ष है, अतः उसे भरना सबसे अधिक सार प्रतीत होता है। आत्मा को किसने देखा है, कौन देखता है? किन्तु ज्ञानी लोग तो परोक्षप्रिय होते हैं; वे प्रत्यक्षद्विषः—ऊपरी वस्तुओं से प्रीति नहीं करते। प्राकृतजन ऊपरी वस्तुओं में अप्रत्यक्ष पदार्थों में रत रहते हैं, और परोक्ष-इन्द्रियों से अगोचर पदार्थों से विरत रहते हैं। वे तो आत्मा की अर्चना की सामग्री जुटाकर शरीर को अर्पण कर देते हैं। ऐसे ही लोगों का आत्मा रोकर कहता है—

न नूनमस्ति नश्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीते विनश्यति।

सचमुच आज नहीं है, कल का भी ढंग नहीं दिखाई दे रहा, हम पर पहले क्या बीती, इसे कौन जाने? चित्त सचमुच अत्यन्त चंचल है। सोच-विचार के विपरीत कर डालता है। वेद ऐसों को

ही आत्मघाती कहता है। आत्मघाती स्वराज्य की नहीं पराजय की कामना करता है। किन्तु इससे—

नान्यत्परमस्ति भूतम्। 'बढ़कर दूसरा कोई तत्व नहीं।'

आओ, आस्था, श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति, प्रीति से 'ओम्' नाम के द्वारा सब के नमस्कार करने योग्य भगवान् की आराधना करें!

❀ ज्ञान का प्रयोजन ❀

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ० १। १६४। ३९॥

यस्मिन्—जिस प्रकार महान् भगवान् में।
विश्वेदेवाः—संपूर्ण देव, पदार्थ
अधिनिषेदुः—अपने-अपने अधिकारानुसार रहते हैं।
ऋचः—ऋचाएं, संपूर्ण वेद
परमे—[उस] परम।
व्योमन्—व्यापक, महान्।
अक्षरे—अविनाशी भगवान् के निमित्त हैं।

यः तत् न वेद—जो उसको नहीं जानता।
ऋचा किम्—[वह] वेद से क्या।
करिष्यति—करेगा?
ये तत् विदुः इत्—जो उसको जानते ही हैं।
ते इमे—वे ये।
समासते—समता से रहते हैं।

इस मन्त्र में जो शिक्षा दी गई है, वह अत्यन्त उच्च कोटि की है। विद्या पढ़ी किन्तु साक्षात्कार न किया, तो वह व्यर्थ-सी है। ऐसा विद्यावान् मनुष्य—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।

जैसे चन्दन का बोझ उठाने वाले गदहा हो जिसे भार की प्रतीति तो होती है, किन्तु चन्दन का ज्ञान नहीं होता ।

ऐसे मनुष्य को पढ़पशु कहना उपयुक्त है। पढ़ लिखकर यदि उसका मनन, निदिध्यासन करके साक्षात्कार न किया, तो पढ़ते और न पढ़ने में क्या भेद है ? अतः वेद कहता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् ।

'सारे वेद उस परम महान् व्यापक अविनाशी परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं।'

कठोपनिषद् में भी यह बात यों कही गई है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि 'ओम्' इत्येतत् ॥
१।२।१५॥

सारे वेद जिस पद का मनन कराते हैं, सारे तप जिसका उपदेश करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य का आचरण करते हैं, उस पद का संक्षेप से तुझे उपदेश करता हूँ—वह 'ओम्' है ।

अर्थात् सम्पूर्ण वेदों, तपों, ब्रह्मचर्य्यों का लक्ष्य 'ओम्' है। ऋषि दयानन्दसरस्वती स्वामी ने भी यही बात कही है—

एवमेष सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यंतात्पर्य्यमस्ति ।
ऋ० भा० भू० ।

'सारे वेदों का मुख्य तात्पर्य्य ब्रह्म में ही है।'

वेद तो पढ़े किन्तु ब्रह्म को न जाना तो सब व्यर्थ गया। इसी भाव को लेकर वेद कहता है—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ।

'वेद पढ़ने से उसे क्या लाभ, जिसने ब्रह्म को नहीं जाना।'

इस वेदमन्त्र से प्रतीत होता है कि विद्या दो प्रकार की है एक श्रवण या शब्दात्मक दूसरी अनुभवात्मक। श्रवण पहली सीढ़ी है, अनुभव या साक्षात्कार अन्तिम सीढ़ी है। श्रवण (अध्ययन)के बिना साक्षात्कार असंभव है। इस वास्ते केवल पढ़ना भी व्यर्थ नहीं है, जैसा कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द-सरस्वती जी लिखते हैं—

'(द० ग्रन्थमाला पृ० ६५६)

"अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति, परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्यप्युत्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसंबन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः। यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः ॥

'अर्थज्ञान के साथ पाठ करने पर परमोत्तम फल प्राप्त होता है। किन्तु जो नहीं पढ़ता; उसकी अपेक्षा पाठमात्र करनेवाला भी उत्तम होता है। जो तो शब्द अर्थ-सम्बन्ध के ज्ञान के साथ पढ़ता है, वह उत्तमतर। और जो इस प्रकार वेदों को पढ़ और समझकर शुभ गुणों के आचरण द्वारा सबका उपकारी होता है, वह उत्तमतम है।'

उपनिषद् में विद्या के इन भेदों को अपरा और परा नाम दिया गया है। यथा—

द्वे विद्ये वेदितव्ये······परा चैवापरा च।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

मुण्डको० १। १। ५॥

'दो विद्याएं जाननी चाहिएं……परा और अपरा। उनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष अपरा विद्या है। और परा वह विद्या है जिससे उस अविनाशी की प्राप्ति होती है।',

निस्सन्देह अनुभवात्मक विद्या परा है, सर्वोत्कृष्ट है। यहां केवल शाब्दिक ज्ञान की अपेक्षा अनुभवात्मक ज्ञान का उत्कर्ष बताया गया है, ऋग्वेद आदि की निन्दा इसका तात्पर्य्य नहीं है।

ब्रह्म का साक्षात्कार किस प्रकार होता है—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम् तदपाणि-पादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

मुण्डको० १। २। ६॥

वह अदृश्य है, हाथ आदि से गृहीत नहीं हो सकता वाणी, चक्षु और कान का वह विषय नहीं, वह श्रोत्र-चक्षु हस्तपाद-रहित नित्य, व्यापक, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, अधिकारी, जगत्कारण है, धीर लोग उसके दर्शन करते हैं। यह वेद के—

'अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।'

का व्याख्यान है।

जो उसे जान लेते हैं, वे समता और शान्ति लाभ करते हैं।

❀ आत्मनिरूपण ❀

य ऋतेचिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्त्ता विह्रुतं पुनः ।

सा० पू० ३ । २ । ६ । २

यः—जो ।
जत्रुभ्यः आतृदः पुरः—जत्रुओं=मर्मों, के टूटने से पूर्व-पूर्व
अभिश्रिषः ऋते चित्—जोड़ने वाले पदार्थ के बिना भी ।
सन्धि सन्धाता=जोड़ों को जोड़ देता है ।

पुरूवसुः—अनेक धनों का स्वामी
मघवा—[वह] जीव ।
विह्रुतम्-कुटिलता का,भग्नता का
पुनः निष्कर्त्ता—फिर से भोगने वाला, अथवा सुधारने वाला है ।

वेद और उसके अनुयायी आर्य्य-शास्त्रों का मुख्य विषय 'आत्मदर्शन' है । इसलिए इनका नाम दर्शन है ।

न्यायदर्शन में प्रमेय की गिनती में आत्मा को पहले गिनाया है । याज्ञवल्क्य ने भी मैत्रेयी को आत्मदर्शन का उपदेश दिया है—

आत्मा वाऽऽअरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि !
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या
विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥ (बृहदा० २ । ४ । ५)

'अरे मैत्रेयी ! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए [और उसके लिए] श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। अरे, आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब कुछ जाना जाता है।'

इस आत्मा की क्या पहचान है ? न्यायदर्शनकार गौतम ऋषि कहते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान यह आत्मा के पहचान कराने वाले हैं।

कणाद महर्षि ने प्राणन अपानन आदि क्रियाओं को मिलाकर ज़रा थोड़ा-सा लम्बा लक्षण कर दिया है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश करते हुए कहा—

अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू इत्यानुशासनम् ।

'यह आत्मा महान् है और सब सुख-दुःख का अनुभव करने वाला है, यह उपदेश है।'

मानो इसी का अनुवाद करते हुए वात्स्यायन मुनि, गौतमकृत न्यायसूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः, सर्वानुभावी । न्या० १ । १ । ६ ।

'आत्मा तो सबका द्रष्टा, सब (सुख-दुःख) का भोक्ता, सर्वज्ञ सबको जानने में समर्थ अर्थात् सर्वानुभावी है।'

योगिराज पतंजलि ने कहा—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः । २।२०

'द्रष्टा (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है। शुद्ध होता हुआ भी बुद्धि आदि के द्वारा देखता है।'

ये सभी लक्षण ठीक हैं और एक दूसरे की पुष्टि करते हैं किन्तु वेद का लक्षण इन सबसे विलक्षण और सबकी बुद्धि में समा जाने वाला है। वेद कहता है—

ऋतेचितभिश्रिषः···सन्धाता सन्धिम्।

'जोड़ने वाले [लाख, मोम, रांगा आदि] पदार्थों के बिना भी जोड़ों को जोड़ देता है।'

संसार में जब कोई पदार्थ टूटता है, तब उसे लाख, मोम आदि पदार्थों से जोड़ा जाता है। किन्तु शरीर के अन्दर यदि टूट-फूट हो जाए, और साधारणतया व्यवहार करें, कोई विशेष व्यत्यय(उलटा) व्यवहार न करें,तो वह टूट-फूट ठीक हो जाती है वह अपने आप नहीं होती, वरन् उसे आत्मा ठीक करता है। वेद ने उसे यहाँ 'मघवा पुरुवसुः' [महाधनी इन्द्र=जीवात्मा] कहा है।

आत्मा पुरुवसु होता हुआ भी अल्पसामर्थ्य है। अतः कहा कि सब भग्नों (टूट-फूटों) का सन्धान नहीं कर सकता। वरन्—

पुरा जत्रुभ्य आतृदः। 'मर्मों के टूटने से पहले पहले'

शरीर में कई मर्मस्थल हैं! वे यदि टूट जाएं, तो मृत्यु हो जाती है। आत्मा उनका सन्धान नहीं कर सकता।

आत्मा को कर्म्मफल भी भोगना पड़ता है—

निष्कर्त्ता विहुतं पुनः।

'कुटिलाचरण का पुनः फल भोगता है।

भोक्ता कहकर कर्म्मकर्ता भी बता दिया। कर्म्मफलभोग भोगने के लिए उच्च-नीच योनियों में जाना पड़ता है। जैसा कहा भी है—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः ॥

ऋ० १ । १६४ । ३१

'मैंने इन्द्रियों के अधिपति आत्मा के दर्शन किए, यह उलटे सीधे मार्गों से चलता है, और उसके कारण भली बुरी अवस्थाओं का अनुभव करता हुआ बार-बार शरीरों में (संसारों में) आता है ।'

'निष्कर्ता विहु तं पुनः' का एक और भाव यह भी है कि अपने कुटिल कर्मों का फिर सुधार भी कर लेता है । इसमें आशा की झलक है । वेद में एक दूसरे स्थान पर बहुत बड़ा आशा का शुभ संवाद है—

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥ अ० ५।३०।७

अनुकूलता से बुलाया जाकर तू फिर इस उन्नतिकारक पथ पर आ क्योंकि आरोहण (ऊपर चढ़ना), आक्रमण (आगे बढ़ना) प्रत्येक जीव की गति है ।

अर्थात् निराश मत हो, तेरी उन्नति होगी और अवश्य होगी।

स्वामी वेदानन्द के द्वारा ग्रथित

स्वाध्याय-सुमन

समाप्त

॥ ओं शम् ॥